श्रीमद् भगवद्गीता

आमुख

तरूणावस्था में मुझ नव-वयस्क को श्री गीता पढ़ने में भय लगता था. मेरा मानना था कि गीता की शिक्षाऐं कुछ ज्यादा ही आदर्शवादी थीं जोकि हमारे कंप्यूटर और अंतरिक्ष युग में प्रासंगिक नहीं हो सकती थीं. मेरा यह भी मानना था कि मोक्ष उन के लिए था जो जीवन से कुछ और पाने की आशा छोड़ बैठै थे.

अपने जीवन की अर्द्ध-शताब्दी पर मैंने महसूस किया कि मेरे जन्म के समय आम औसत आयु लगभग ५७ वर्ष थी. ५५ वर्ष की आयु में सेवा-निवृत्त हो कर लोग कुछ ही वर्षों में परलोक सिधार जाते थे. ऐसे में मेरा ५० वर्ष का होने पर भी स्वस्थ और तन्दरुस्त रहना एक उपलब्धि ही थी. उस सोच ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया. मैंने शाक सब्जियों का सेवन बढ़ा दिया और भविष्य की योजना का चिन्तन प्रारम्भ कर दिया. मेरे पूर्व सस्कारों नें मुझे हिन्दुत्व की ओर मोड़ दिया, परन्तु मुझे न तो हिन्दुओं द्वारा पूजित देवताओं के बारे में कुछ पता था और न उनके विभिन्न अवतारों के बारे में. अपने असंख्य प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये मैंने मनीषियों से जिज्ञासा प्रकट की. मुझे कहा गया कि मैं एक प्रसिद्ध स्वामी व अमेरिका के एक संवाददाता के मध्य हुए संवाद का रूपांतर पढ़ूं . इस रूपांतर को पढ़ कर मुझे प्रतीत हुआ कि स्वामी जी अमेरिका की जीवन शैली को भारतीय जीवन शैली से हेय सिद्ध करने का प्रयास कर रहे थे. मझे प्रतीत हुआ कि स्वामी

जी अमेरिकी जीवन शैली को समझ नहीं पाये थे. मैंने श्री गीता की एक प्रति खरीदी, तथा एक प्रति इंटरनैट से उतार ली जिसके सारे संस्कृत के श्लोक मैंने निकाल दिए. मुझे यह अनुवाद भी क्लिष्ट प्रतीत हुआ. मैं इसे ठीक से समझ भी नहीं सका. शायद अनुवादक महोदय ने बहुत भारी शब्द इस्तेमाल किये थे. यह भी हो सकता है कि अंग्रेजी भाषा पर उनका बहुत अच्छा अधिकार रहा हो. कुछ भी हो, इस अनुभव ने मुझे हतोत्साहित कर दिया. मैं यह भी सोचने पर बाध्य हो गया कि,अब मेरा उद्धार तो सम्भव न हो सकेगा.

समय बीतता गया. श्रीमद् भगवद् गीता को जानने की मेरी इच्छा प्रबल होती गई. साथ ही एक सरल व आम इंग्लिश भाषा में गीता को ढूढ़ं निकालने की इच्छा भी प्रबल होती गई. मेरा सौभाग्य था कि अंतर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी द्वारा संचालित पत्राचार कार्यक्रम का भी मुझे पता लगा. अंततः मैं श्री गीता ज्ञान की सुहानी रूहानी गोदी की ओर चल ही पड़ा.

श्री गीता के अनुसार–

- फल की चिन्ता न करते हुए सबको अपनी भरपूर क्षमता से कार्य करना चाहिए. उदाहरण स्वरूप एक किसान यह तो तय कर सकता है कि वह अपनी भूमि पर क्या और कैसे उगाए, परन्तु फसल होगी या नहीं या कम होगी या ज्यादा, इस पर उस का स्वामित्व नहीं है. फसल बोनी भी पड़ेगी ही.

- ❖ ईश्वर को सदैव हर प्राणी में समान रूप से जानो.
- ❖ सब जीवों के प्रति समभाव रखो.

साथ ही मानव के जीवन के चार उद्देश्य हैं–

- ❖ अपना कर्त्तव्य-पालन करना.
- ❖ धनोपार्जन करना.
- ❖ भौतिक व ऐन्द्रिय सुखों का, इन्द्रियों को वश में रखते हुए, उपभोग करना, और
- ❖ मुक्ति प्राप्त करना.

हमें चित्त की शान्ति, आनन्द व अक्षोभ प्रदान करना ही श्री गीता का (महान्) उद्देश्य है. कोई धार्मिक अनुष्ठान करने का प्रस्ताव गीता नहीं रखती. श्री गीता के अनुसार विश्व को विभिन्न प्रकार के धर्मों, सम्प्रदायों व देवी-देवताओं की आवश्यकता है, ताकि मनुष्यों की विभिन्न प्रकार की असंख्य आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके.

"खाओ-पियो-मस्त रहो", एक आधुनिक कहावत है. किन्तु इस स्थिति को पाने का मूल-मंत्र हमें गीता ही प्रदान करती है. गीता का संदेश हमें सभी धर्मों व राष्ट्रों की परिधियों से आगे ले जाता है.

डाक्टर रामानन्द प्रसाद, जोकि "अंतर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी" के संस्थापक हैं, व सरल इंग्लिश भाषा में "श्रीमद् भगवद्गीता" के लेखक हैं, ने मुझे श्री गीता के संदेश को सांगोपांग समझने में बहुत सहायता की. मैं उनका बहुत आभारी हूं कि उन्होंने मेरे जीवन को गीता-निधि से

सम्पन्न व समृद्ध कर दिया. डाक्टर रामानन्द प्रसाद ने दया-वश अपना अमूल्य समय दे कर यह भी सुनिश्चित किया कि यह लघु ग्रन्थ भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य वाणी "श्रीमद् भगवद्गीता" का ठीक-ठीक प्रतिपादन कर सके. इस महान् कार्य के लिये मैं उन का ऋणी रहूंगा. इस ग्रंथ का मुख्य आधार तो डाक्टर प्रसाद की कृति ही है, परन्तु इसके इस रुप में आपके समक्ष रखने में मैंने अनेक विद्वान लेखकों की कृतियों व टीकाओं का अवलम्बन लिया है. उन सभी विद्वान मनीषियों का मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूं.

इस ग्रन्थ में कोष्ठकों में दिये गए अंक (xx.xx) इसी क्रम में मूल श्री गीता के अध्यायों व श्लोकों का संदर्भ दर्शाते हैं. यदि इस लघु ग्रन्थ के रूप में मेरा यह तुच्छ प्रयास आपके हृदय में कुछ हिलोर, कुछ उत्कंठा जाग्रत करे तो कृपया आइये हमारी वेब-साइट पर जहाँ आपका सहर्ष स्वागत है–

www.gita-society.com
or
www.gita4free.com

विनीत
हैरी भल्ला

प्रार्थना

भगवान श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन के अमृतरूप संवाद का यह रूप भगवान की इच्छानुसार, उन्हीं की शक्ति से सम्पन्न, उन्हीं कृपानिधान के चरण-कमलों में सादर समर्पित है. प्रभु इसे स्वीकार करने की कृपा करें

हिन्दी संस्करण का आमुख

मैं प्रबुद्ध पाठक को यह निवेदन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि अनुवादक को किसी प्रकार के हिन्दी अनुवाद का कोई भी अनुभव नहीं हैं. ऐसे में स्वाभाविक है, कि यह प्रयास विद्वान पाठकों की कसौटी पर खरा न उतरे, और इसमें व्याकरण व भाषा आदि की बहुत अशुद्धियाँ हों. साहित्य के क्षेत्र में पहला कदम रखते ही मुझे प्रभु का गुण-गान करने का अति दुर्लभ अवसर मिला है, ऐसे में मुझे पूर्ण विश्वास है, और करबद्ध प्रार्थना है, कि ज्ञानी व दयालु पाठक मेरी चपलता पर ध्यान न दे कर मुझे क्षमा करेंगे, और मेरा मार्ग-दर्शन करने की कृपा करेंगे.

मैं यह भी निवेदन करना चाहता हूं कि मूल अंग्रेजी संस्करण के पाठ में सम्मिलित श्लोकों की अपेक्षा, इस हिन्दी पाठ में मूल संस्कृत पाठ से कुछ और श्लोकों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, ताकि हिन्दी भाषी पाठकों को श्रीकृष्ण भगवान के विराट् रूप की पूरी झांकी मिल सके. साथ ही कोष्ठकों में श्लोक संख्या के अतिरिक्त कुछ और सन्दर्भ भी हिन्दी भाषा के पाठकों के लिए इस पाठ में दिऐ

गऐ हैं. मेरा यह मानना है कि इससे इस प्रयास की उपादेयता बढ़ जाऐगी. कहीं कहीं छोटे फॉन्ट में कुछ टिप्पणियाँ भी देने का साहस किया गया है, जिससे ग्रन्थ की रोचकता बढ़ सके, परन्तु कलेवर ना बढ़ सके. शायद समस्त प्राप्य गीता भाष्यों में इसी संक्षिप्त हिंदी रूपांतर में पहली बार तालिकाऐं भी दी गई हैं, जिससे सारी सम्बंधित जानकारी एक ही स्थान पर उप्लब्ध हो सके. अनुवाद करने में, तथा भावों को समझने में विद्वान लेखकों के जिन ग्रंथों की सहायता ली गई है, उन की सूची भी पाठकों के लाभ के लिए, अन्त में दे दी गई है. मैं उन सब दयालु विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं और उनका सदैव ऋणी रहूंगा.

— राजीव कुमार भटनागर

श्रीमद् भगवद्गीता

(संक्षिप्त)

अध्याय १ : महात्मा अर्जुन संशय में

(श्री गीता के प्रथम ६ अध्यायों में ईश्वर ने यह व्याख्या की है, कि किन परिस्थितियों में जीव उन्हें समझ सकता है)

ईसा पूर्व ३,००० वर्ष पहले की बात है. साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए चचेरे भाईयों में युद्ध हुआ. दोनों ओर की सेनाओं में सगे-सम्बन्धीगण, गुरुजन, व समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे. महात्मा अर्जुन स्वयं एक प्रसिद्ध योद्धा व असाधारण धनुर्धारी थे. महात्मा अर्जुन के बचपन के सखा भगवान श्रीकृष्ण उनके सारथी बने.

युद्ध क्षेत्र में अपने सुहृदों, बान्धवों व आचार्यों आदि को युद्ध के घोर कर्म में प्रवृत्त देख कर महात्मा अर्जुन महान् आश्चर्य-मिश्रित विषाद में पड़ गए. वे कहने लगे– "हे कृष्ण, मैं युद्ध में विजय नहीं चाहता, ना राज्य और ना (युद्ध में जीत कर प्राप्त होने वाला) सुख ही चाहता हूं. जिन के लिए हमारी राज्य, भोग और सुख की इच्छा है, वे सब ही अपने-अपने प्राणों का मोह छोड़ कर युद्ध क्षेत्र में खड़े हैं". (१.३२-३३)

महात्मा अर्जुन ने कहा– हे कृष्ण, इस राज्य की तो बात ही क्या है, चाहे मुझे त्रिलोक का राज्य भी मिले, तो भी, मैं अपने अग्रजों, धर्म-गुरुओं व सम्बन्धियों को, जो हमें मारने को तत्पर हैं, नहीं मारना चाहता. (१.३४-३५) ऐसा

कहकर शोकातुर अर्जुन धनुष-बाण का त्याग करके, युद्ध-भूमि में रथ के मध्याभाग में बैठ गये. (१.४७)

अध्याय २ : ब्रह्मविद्या योग

महात्मा अर्जुन ने कहा– हे कृष्ण, इन महानुभाव गुरुजनों को मार डालने की अपेक्षा इस लोक में मैं भिक्षा का अन्न खाना अधिक कल्याणकारी समझता हूं. उन महानुभाव गुरुजनों को मारने पर इस लोक में मैं रूधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा. (२.०५) महात्मा अर्जुन ने आगे कहा कि हम यह नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना या न करना, इनमें से क्या श्रेष्ठ है. हम यह भी नहीं जानते कि हम विजयी होंगे कि वे. हमें तो यह इच्छा भी नहीं करनी चाहिए कि उन्हें मार कर हम जीवित रहें (२.०६).

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– (हे अर्जुन) तू जिनके लिए व्यथित है, वे इस योग्य नहीं हैं. ज्ञानीजन, जीवित व मृत, दोनों के लिए ही शोक नहीं करते. (२.११) (क्योंकि) ऐसा समय कभी नहीं रहा, जब मैं या ये सब नहीं थे. ना ही ऐसा समय कभी होगा, जब मैं, या ये सब लोग नहीं रहेंगे. (२.१२). मृत्यु के पश्चात् आत्मा एक नया शरीर धारण कर लेती है. (२.१३) अदृश्य आत्मा सदैव अमर है और दिखाई देने वाला शरीर सदैव नाशवान है. (२.१६) आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्मांड में नित्य व्याप्त है और अविनाशी है. इसे कोई मार नहीं सकता (२.१७) इस नाशरहित, अप्रमेय व नित्यरूप

आत्मा का शरीर ही केवल नाशवान है. अतः हे अर्जुन तू युद्ध कर. (२.१८) आत्मा न जन्म लेता है, न मृत्यु को प्राप्त होता है. आत्मा सदा अजन्मा, नित्य, सनातन व पुरातन है. शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का क्षय नहीं होता. (२.१९-२०). जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नूतन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को त्याग कर नया शरीर ग्रहण करता है. (२.२२)

यदि तुम यह भी सोचते हो कि यह भौतिक शरीर निरन्तर जन्म लेता व मृत्यु को प्राप्त होता है, तब भी यह तुम्हारे लिए शोक का विषय नहीं होना चाहिए (क्योंकि) जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है, तथा जिसकी मृत्यु हो गई है, उसका पुनर्जन्म भी अवश्य होगा. इसलिए इस अटल सत्य पर शोक नहीं करना चाहिए, वरन् दिवंगत आत्मा के मोक्ष के लिए प्रार्थना करनी चाहिए. (२.२६-२७)

(हे अर्जुन) युद्ध ही तुम्हारा कर्त्तव्य है, जिससे विमख होना तुम्हें शोभा नहीं देता. एक योद्धा के लिए (वैसे भी) धर्मरक्षार्थ-युद्ध से बढ़कर और कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है. (२.३१) अपने आप प्राप्त हुए इस युद्ध को, और (इस युद्ध के द्वारा) अनायास ही खुलने वाले स्वर्ग के द्वार को (कोई) भाग्यवान योद्धा ही प्राप्त कर पाते हैं. (२.३२) धर्म की स्थापना हेतू युद्ध करना, अधिकार प्राप्त करने के लिए किए गए युद्ध करने से, सर्वथा बेहतर है.

किन्तु तू यदि इस धर्मयुद्ध से विमुख होगा तो अपने कर्त्तव्य से गिर जायेगा, अपकीर्ति को प्राप्त होगा व पाप का

भागी होगा. लोग तुम्हारे अपयश की सदैव चर्चा करेंगे. (हे अर्जुन) कीर्तिवान पुरूषों के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर होती है (२.३३-३४) यदि तुम इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए, तो स्वर्ग में जाओगे और यदि विजयी हुए तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे. इसलिए, हे अर्जुन दृढ़ निश्चय के साथ युद्ध में सन्नद्ध हो जाओ. (२.३७) केवल अपने निहित कर्त्तव्य को सोच-समझ कर भली-भाँति युद्ध कर और हार-जीत, लाभ-हानि, जय-पराजय का विचार न कर. यदि तू इस प्रकार भली-भांति सोच विचार कर युद्ध में प्रवृत्त होगा तो तू पाप का भागी भी नहीं होगा और कर्म-फल से भी बद्ध नहीं होगा. (२.३८)

हे अर्जुन, जो भोगों व ऐश्वर्यों में प्रीति रखते हैं व कर्मफल की आशा से अन्यान्य क्रियाओं में रत हैं, वे परमात्मा के प्रति निश्चयात्मक बुद्धि नहीं रख सकते. (२.४४) हे अर्जुन तू निर्द्वन्द्व हो जा. श्रद्धा-सम रह व विचलित न हो. भोगों में तेरी अहंता, ममता, आसक्ति व कामना ना हो. हे अर्जुन, तू निस्त्रैगुण्य हो कर (तीनों गुणों– सत्त्व, रज व तम– से रहित होकर) स्वाधीन अन्तःकरण से परमात्मा में स्थित हो जा. (२.४५) ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हुए व्यक्ति के लिए वेदादि की उसी प्रकार कोई उपयोगिता नहीं रह जाती जिस प्रकार समुद्र-सम परिपूर्णता-प्राप्त जलाशय प्राप्त होने पर (नदी आदि) छोटे स्त्रोत की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती. (२.४६)

केवल कर्म करना ही मनुष्य के वश में है, कर्मफल नहीं. (२.४७) पराजय या हानि का भय तथा कर्त्तव्य कर्म

के प्रति मोह-पूर्ण आसक्ति ही सफलता के मार्ग की बाधाएँ हैं, क्योंकि ये निरन्तर कर्त्ता के आशंकित मन को उद्वेलित करती हैं और उसकी कार्य-क्षमता पर अपना दुष्प्रभाव डालतीं हैं. एक किसान अपना खेत जोत तो सकता है, परन्तु फसल के होने या न होने पर उसका कोई वश नहीं. तब भी (फसल की आशा से) उसे खेत तो जोतना ही पड़ेगा. (इसलिए हे धनञ्जय) तुम्हारे या किसी भी मनुष्य की कर्त्तव्य सीमा कर्म करने तक है. अपना कर्त्तव्य कर्म, पूर्ण क्षमता से, अपने चित्त को मुझ में स्थिर करके, कर्म-फल में अनासक्त होकर करते जाओ. इसी से तुम्हें शांति व सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धि प्राप्त होगी (क्योंकि सकाम कर्म निम्न श्रेणी का होता है). (२.४८)

भगवान श्रीकृष्ण ने आगे कहा– मन में स्थित सभी (कामनाओं) इच्छाओं (सुख देने वाले पदार्थों की आसक्ति-युक्त कामना को "इच्छा" कहते हैं. इस इच्छा के वासना, तृष्णा, आशा, लालसा, स्पृहा, आदि अनेक भेद हैं. यह अन्तःकरण का विकार है) व द्वेष का त्याग करके दुःख में उद्वेलित न होने वाला व सुख में सर्वथा निस्पृह रहने वाला मननशील मनुष्य ही स्थिर बुद्धि से युक्त होता है. (२.५७) इन्द्रियों की चंचलता बुद्धिमान पुरुष की बुद्धि भी हर लेती है. (२.६०) इसलिए सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके ही बुद्धि को मन में प्रतिष्ठित किया जा सकता है. (२.६१) (इन्द्रियों का स्तम्भन ना करने से) विषयों का चिन्तन बढ़ जाता है और मनुष्य की विषयों में आसक्ति हो जाती है. आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है, और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है. क्रोध से (कटुता, कठोरता, कायरता, हिंसा, प्रतिहिंसा,

दीनता, जड़ता आदि दोष उत्पन्न होने पर) अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भाव से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रम से बुद्धि अर्थात ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है, और फलस्वरूप मनुष्य अपनी स्थिति से गिर जाता है. (२.६२-६३)

जितेन्द्रिय मनुष्य राग-द्वेष से रहित हो कर चित्त की ऊंची प्रसन्नता के भाव को पाता है क्योंकि वही इन्द्रियों में अनासक्त रह कर विषयों को भोग सकता है. (२.६४) असंयमी चित्त वाले पुरूष का मन तूफान में नौका की तरह बुद्धि को हर लेता है. (२.६७) संयमी पुरूष के मन में भोग विलास उसी प्रकार कोई विकार उत्पन्न नहीं करते, जिस प्रकार नदियाँ निरन्तर समुद्र में आकर मिलती रहतीं हैं, परन्तु समुद्र सदा अपनी मर्यादा में रहता है. (२.७०)

परमात्मा व उसके मिलन से प्राप्त होने वाली परम् आनन्दमयी स्थिति को परमात्मा के पारायण होकर ही प्राप्त किया जा सकता है.

अध्याय ३ : कर्त्तव्य पथ

महात्मा अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न किया– हे जनार्दन, यदि आप सकाम कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ समझते हैं तब मुझे इस युद्ध जैसे कठोर कर्म में क्यों लगाते हैं?

भगवान श्रीकृष्ण बोले– हे अर्जुन, इस लोक में आत्म साक्षात्कार के लिए दो मार्ग मेरे द्वारा पहले बताए गए हैं. ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग व शेष सभी के लिए समत्व बुद्धि

से निष्काम कर्म. (३.०३) (मन, इन्द्रिय, व शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं को अभिमान रहित हो कर परमात्मा में एकीभाव से स्थित होना ही ज्ञानयोग है. इसे सन्यास व साँख्य योग भी कहा गया है. कर्म के फल और आसक्ति का त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समत्व बुद्धि से कार्य करना ही निष्काम कर्मयोग कहा गया है. इसे समत्वयोग, कर्मयोग, तदर्थ कर्म, भदर्थ कर्म, मत्कर्म आदि नामों द्वारा जाना जाता है) मनुष्य न तो केवल कर्म के त्याग मात्र से और न कर्म से विमुख होकर ही (कर्म को आरम्भ किये बिना) निष्काम कर्मयोग को प्राप्त कर सकता है. मनुष्य को प्रकृति ने ऐसा बांध रखा है कि हर दशा में उसे कर्म तो करना ही पड़ेगा. (३.०४-०५) (इसी प्रकार भगवद् भक्ति से ज्ञानी जन कर्म फल से मुक्ति पा लेते हैं. इसलिए, हे अर्जुन, कर्मों में फल व आसक्ति का त्याग करके कर्म बन्धन से मुक्त हो जा. गीता २.५१ देखें)

मनुष्य बहुधा इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि ज्ञान-योग प्राप्त करने के लिए, वेदादि पवित्र पुस्तकों का अध्ययन, मनन व ब्रह्म विद्याओं का ज्ञान, कर्त्तव्य-यज्ञ के मार्ग के अनुसरण से बेहतर मार्ग है. परन्तु परमात्मा में एकीभाव से स्थित विद्जन अपने को किसी भी कार्य का कर्त्ता नहीं समझता. वह तो अपने को प्रकृति के हाथों की कठपुतली समझता है (और सभी कर्म परमात्मा की प्रसन्न्ता के लिए ही करता है). हे अर्जुन, ज्ञान योग व निष्काम योग दोनों ही परमात्मस्वरूप को पाने के दो मार्ग हैं यह दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं वरन् दोनों एक दूसरे के पूरक हैं. हे अर्जुन भरपूर क्षमता से अपना कर्त्तव्य-कर्म प्रभु को अर्पण करके करते जाओ. (३.०९)

भगवान श्रीकृष्ण बोले— हे अर्जुन, इस ब्रह्मांड में किंचित् मात्र भी प्राप्त हो सकने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त नहीं है, फिर भी मैं स्वयं कर्म करता हूं (३.२२) क्योंकि यदि मैं कर्म न करूं तो लोग मेरा अनुसरण करते हुए, अकर्मण्य हो जाऐंगे. इसके फलस्वरुप प्रजाओं का हनन हो जाऐगा, जिसका कारण मैं होऊंगा. (३.२३-२४) इसलिऐ हे अर्जुन, तू ध्याननिष्ठ हो कर, ममता रहित, संताप रहित व आशा रहित हो निष्ठा पूर्वक अपना सम्पूर्ण कर्म मुझे समर्पित कर दे. (३.३०) (सभी इन्द्रियों के भोगों में स्थित) राग व द्वेष, कल्याण मार्ग के दो महान् अवरोध हैं. (३.३४) इनका त्याग करके ही मानसिक शांति व अक्षोभ को प्राप्त हुआ जा सकता है.

महात्मा अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण फिर मनुष्य बलात् पाप कर्म क्यों करता है. (३.३६)

भगवान श्रीकृष्ण नें कहा— भोगों से सदा अतृप्त रहने वाला (रजोगुण से उत्पन्न) काम और उसके अतृप्त रहने पर (द्वेष से उत्पन्न) क्रोध ही इसका मुख्य कारण है. काम सदा अतृप्त रहता है व मनुष्य का नित्य वैरी है. (३.३७) इन्द्रियां, मन व बुद्धि इसके वास स्थान हैं. इन्द्रियां, मन व बुद्धि द्वारा काम ज्ञान को ढ़क कर जीवात्मा को मोहित कर देता है.(३.४०) अतएव हे अर्जुन, पहले इन्द्रियों का दृढ़ता-पूर्वक स्तम्भन करके, ज्ञान का नाश करने वाले शत्रु, काम, का दमन कर. (३.४१)

शरीर से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी अधिक शक्तिशाली आत्मा है. (३.४२) इसलिए हे

महाबाहो अर्जुन, सर्व शक्तिमान् आत्मा को वैराग्य व अभ्यास द्वारा जानकर महान् बलवती बुद्धि द्वारा कामरूपी शत्रु का विनाश कर. (३.४३) (कठोपनिषद ३-१० भी देखें)

अध्याय ४ : ज्ञानकर्म सन्यास-योग का मार्ग

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– तुम्हारे और मेरे अनेकानेक जन्म हो चुके हैं. मुझे उन सब का ज्ञान है, परन्तु तुम्हे नहीं है. (४.०५)यद्यपि मैं नित्य, अजन्मा, अविनाशी व सब प्राणियों का ईश्वर हूं, तथापि अपनी प्रकृति को अपने आधीन करके अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता हूं. (४.०६) हे अर्जुन, जब भी और जहां भी धर्म का पतन और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, तब तब मैं अवतार लेता हूं (४.०७) भक्तों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने और धर्म की पुनर्स्थापना हेतू मैं (हर युग में) प्रकट होता हूं (४.०८)

मनुष्य विभिन्न भावों से मेरी अर्चना करते हैं और मैं उनकी इच्छा के अनुरूप उन्हें फल प्रदान करता हूं. (४.११) परन्तु वे जितेन्द्रिय मनुष्य, जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, और जो यह जानते हुऐ कर्म करते हैं कि वे कर्मों के फल को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं कर सकते, कर्म करते हुऐ भी उनसे अलिप्त रहते हैं और इस प्रकार पाप के भागी नहीं बनते. (४.२१) त्यागी मनुष्य जो स्वतः प्राप्त होने वाले लाभ से सतुंष्ट रहता है, और किसी प्रकार के द्वन्द, जैसे हार-जीत, सफलता असफलता आदि में अधीर नहीं होता तथा ईर्ष्यालू नहीं है, वह कभी भी कर्म बन्धन मे नहीं फंसता. (४.२२)

लोग विभिन्न प्रकार (के उद्देश्यों) से हवनादि कर्म किया करते हैं, परन्तु भगवद्प्राप्ति तो उन्हीं को होती है, जो चित्त से सर्वदा परमात्मा में लीन रहते हैं व सम्पूर्ण संसार को ब्रह्ममय ही मानते व समझते हैं अर्थात प्रत्येक जन व वस्तु में ब्रह्म का ही स्वरूप देखते हैं. (४.२४) आत्म-ज्ञान का अमृत, जो किसी भी वस्तु के त्याग व दान आदि से कहीं उच्च है, तो उन्हे ही प्राप्त है, जो निष्काम भाव से सेवा-पूजा में रत रहते हैं. मन की वृत्तियों का दमन व बुद्धि की निमर्लता द्वारा ही अंततःगोत्वा अध्यात्म के परम् ध्येय, परमात्मा, से मिलन हो सकता है. (४.३३)

उस गुह्य विज्ञान को जानने के पश्चात्, हे अर्जुन, तुम फिर कभी मोहित नहीं होओगे. अब से तुम सम्पूर्ण जीवों को, जो सब मेरे ही अंश हैं, अपने में ही देखोगे. (४.३५)

घोर पापी भी इस ब्रह्मज्ञान रूपी नौका द्वारा पाप रूपी समुद्र को निश्चय ही लाघँ सकता है (४.३६) इस संसार में तत्त्वज्ञान के समान (अन्तःकरण को) शुद्ध करने वाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है. उस तत्त्वज्ञान को, ठीक समय आने पर, कर्मयोगी अपने आप प्राप्त कर लेता है. (४.३८) (४.३८) वह, जो परमात्मा के प्रति श्रद्धावान है, सावधान होकर साधन पारायण रहता है, और जितेन्द्रिय है, इस ब्रह्म-ज्ञान को शीघ्र ही प्राप्त करके, परम शान्ति व मोक्ष को प्राप्त होता है. (४.३९) (परन्तु विवेकहीन, श्रद्धारहित और शंकालु मनुष्य का पतन हो है. ना तो वह इहलोक, ना परलोक, और ना ही सुख प्राप्त कर पाता है. (४.४०) इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन, अपने हृदय में स्थित अज्ञान से

उत्पन्न संशय को दूर कर दे. (४.४२) (टिप्पणी– कुछ श्रद्धा, कुछ दुष्टता, कुछ संशय, कुछ ज्ञान. घर का रहा ना घाट का, ज्यों धोबी का ज्ञान)

अध्याय ५ : त्याग का मार्ग

महात्मा अर्जुन ने पूछा– हे कृष्ण, आप कर्म त्यागने व कर्म करने, दोनों का उपदेश देते हैं. कृपया मुझे समझाइये कि इन दोनों में से कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है. (५.०१) भगवान श्रीकृष्ण नें कहा– हे अर्जुन, आत्म-ज्ञान व निष्काम कर्म, दोनों ही मार्ग मुझ तक पहुचँते हैं, परन्तु इन दोनों में निष्काम कर्म अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इस मार्ग का अनुसरण अधिक सरलता से किया जा सकता है. (५.०२) बुद्धिमान मनुष्य कर्मसन्यास (आत्मज्ञान) व निष्काम कर्म (कर्म-योग) को एक दूसरे से भिन्न नहीं समझते और शुद्ध भाव से, अलिप्त रह कर कर्मफल में अनासक्त हो कर, सभी कार्यों को करते हैं. त्याग का अर्थ संसार छोड़ना नहीं है. (५.०४) निष्काम कर्म का ध्येय कर्मफल की इच्छा का त्याग करके साधा जाता है. केवल वही सच्चा त्यागी व ज्ञानी है, जो–

- फल की चिन्ता न करते हुऐ, सभी कार्य प्रभु-अर्पण करते हुऐ करता है
- विषयों का उपभोग भी कर्त्तव्य स्वरूप ही करता है
- सभी जीवों में परमात्मा का अशं जान कर पशु आदि में भी एक ही आत्मा के दर्शन

करता है और सब भूतों का दुःख अपना ही दुःख समझता है. (संत नामदेव को एक बार एक भयानक भूत ने अचानक सामने आ कर डराने का प्रयत्न किया. संत सभी प्राणियों में परमात्मा ही को देखते थे. भूत को देखते ही बोल उठे– भले पधारे लम्बक नाथ, धरनी पाँव स्वर्ग लौं माथा, जोजन भर के लम्बे हाथ, सिव सनकादिक पार न पावें, अनगिन साज सजावें साथ, नामदेव के तुम हौं स्वामी, कीजै मोको आज सनाथ. परमात्मा को आना पड़ा, और भूत का भी बेड़ा पार हो गया)

- ❖ प्रिय पदार्थ को पाकर हर्षित या अप्रिय पाकर भी खिन्न नहीं होता, और दुःख और सुख में आवेशित या उद्विग्न न होकर समान भाव से स्थिर रहता है
- ❖ जो ब्रह्मानन्द में सदा लीन है और उस आनन्द को अपने अन्तर में नित्य संजोए है और आत्मज्ञान में सदा सुखी व लीन है
- ❖ सदा निज स्वार्थ से ऊपर उठ कर कार्य करता है
- ❖ जिसमें किसी के भी प्रति मोह या घृणा का सर्वथा अभाव है, और
- ❖ जो ब्रह्मज्ञान में निरन्तर लीन है, और सदा सच्चिदानन्द का चिन्तन करता है– ऐसा व्यक्ति कभी कर्म-बन्धन में नहीं फँसता व ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है.

ईश्वर कभी न तो कर्मों का सृजन करते हैं, और न कभी कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं. वे कभी कर्म फल की रचना भी नहीं करते. यह सब तो प्रभु की माया शक्ति, प्रकृति माँ, द्वारा प्रदत्त गुणों द्वारा सम्पन्न किया जाता है. (५.१४)

अध्याय ६ : ध्यानयोग का मार्ग

भगवान श्रीकृष्ण बोले– केवल अग्नि का त्याग करने वाला या क्रियाओं का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं होता (६.०१). ज्ञानी जन योग-प्राप्ति के लिए कर्मों में आसक्त हुए बिना कर्म करते हैं. प्रकृति के समस्त जीवों को सम भाव से देखने वाला ही आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है (६.०२) कर्म-फल में आसक्ति का त्याग व निस्वार्थ भाव से कर्म करने की भावना ही मनुष्य को पूर्णता की ओर अग्रसर करती है. (६.०४) मनुष्य अपने मन की सहायता से ही अपना उद्धार या पतन कर सकता है. मन उसी का मित्र होता है जो उस पर नियन्त्रण कर सकता है. जो मन द्वारा नियन्त्रित होता है, मन उस का वैरी हो जाता है (व उसका विनाश कर देता है). (६.०५-०६)

योग-युक्त मनुष्य समस्त जीवों में मुझे व मुझको सब जीवों में देखता है.(६.२९). जो मुझसे निरन्तर जुड़ा रहता है, मैं भी उससे कभी अलग नहीं होता (६.३०) निस्संदेह, हे अर्जुन, मन चंचल होता है और कठिनता से ही वश में होता

है, तथापि इसे वैराग्य तथा दृढ़ता-पूर्वक ध्यान आदि के अभ्यास से निश्चय ही वश में किया जा सकता है. (६.३५)

महात्मा अर्जुन ने पूछा— हे जर्नादन, श्रद्धालू व्यक्ति योगभ्रष्ट होने पर किस गति को प्राप्त होता है. (६.३७). हे कृष्ण, इस प्रकार भोग और योग दोनों से वंचित हो कर वह बादल की भांति छिन्न-भिन्न हो कर नष्ट तो नहीं हो जाता. (६.३८)

भगवान श्रीकृष्ण नें कहा— हे महात्मा अर्जुन, योग-मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति न तो इस लोक में और न परलोक में ही दुर्गति को प्राप्त होता है. असफल योगी, पुण्य लोकों में अपनी इच्छानुसार बहुत समय व्यतीत करके, श्रेष्ठ आचरण वाले किसी पुण्यात्मा के घर में पुनर्जन्म लेता है. परन्तु ऐसा जन्म बहुत ही दुर्लभ है. (६.४१-४२) वहाँ उसे पूर्वजन्म में अर्जित ज्ञान की स्मृति प्राप्त होती है और वह अपनी पूर्णता की अधूरी यात्रा पर फिर से चल पड़ता है. (६.४३) इन सबमें जो जन मुझ में श्रद्धा-पूर्वक तल्लीन रहता है, व मेरी उपासना करता है, वही मेरे मत से सर्वश्रेष्ठ है. (६.४७)

अध्याय ७ : ज्ञान-विज्ञान योग

(अध्याय ७ से १२ तक के ६ अध्यायों में भगवान हमें उनके साथ जीवात्मा के संबध एवं भक्ति के प्रसंग में अपने दिव्य स्वरूप का वर्णन करेंगे. हमें ज्ञात होगा कि ईश्वर किस प्रकार श्रेष्ठ हैं व जीव कैसे उनके आधीन हैं और अपनी विस्मृति के कारण कष्टप्रद स्थिति में हैं. जब पुण्यकर्मों द्वारा जीव को अपनी स्थिति के विषय में ज्ञान का प्रकाश मिलता है, तो किस प्रकार जीव आर्त, दरिद्र, जिज्ञासु या ज्ञान

पिपासु के रूप में उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, इसका ज्ञान हमें इन ६ अध्यायों में मिलेगा)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– हे अर्जुन, सुनो कि तुम किस प्रकार संशय रहित होकर, मुझमें लीन होकर और मुझ पर आश्रित हो कर, मुझे संपूर्ण रूप से पा सकोगे. (७.०१)

मेरी प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है. मेरी एक और, चेतन, परा शक्ति भी है, जिससे मैं इस जगत को धारण करता हूं. (७.०५) तुम ऐसा समझो कि समस्त ब्रह्मांड की रचना इन दो शक्तियों (प्रकृति और पुरुष) के संयोग से हुई है. मैं परब्रह्म परमात्मा ही इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति का स्रोत हूं और यह सृष्टि मुझमें ही विलय हो जाती है. (७.०६) इस प्रकार हे धनंजय मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है. यह ब्रह्मांड मुझ परब्रह्म में मानो सूत में मणियों की भांति गुँथा हुआ है. (७.०७) प्रकृति की तीन शक्तियाँ– सात्त्विक, राजसिक, व तामसिक, तथा उनसे उत्पन्न राग, द्वेष, मोह आदि– भी मेरे से ही उत्पन्न हुऐ हैं, परन्तु मैं उन के विकारों से रहित हूं. मनुष्य सदा इन तीन गुणों के द्वारा उत्पन्न दोषों से भ्रमित रहते हैं, इसलिए नहीं जानते कि मैं इन तीनों गुणों से परे अविनाशी परमात्मा हूं. (७.१३)

हे अर्जुन मेरी इस अलौकिक त्रिगुणात्मक माया को पार करना अति दुस्तर कार्य है, परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इसे पार कर जाते हैं और संसार बंधन से मुक्त हो जाते हैं. (७.१४) हे महाबाहो अर्जुन चार प्रकार के मनुष्य मेरी शरण में आते हैं – दुःखी, जिज्ञासु, धनातुर व ज्ञानी. (७.१६)

हे अर्जुन, अनेक जन्मों के पश्चात्, यह ज्ञानोदय होने पर कि मैं ही जगत में विस्तार पूर्वक चारों ओर व्याप्त हूं , मनुष्य मुझे प्राप्त करता है, ऐसा महात्मा विरला ही है. (७.१९)

जो सकाम भक्त, जिस भी देवता की, जिस भी भावना से पूजा करना चाहता है, उसकी उसी देवता विषयक श्रद्धा को मैं स्थिर व अचल कर देता हूं. इस स्थिर श्रद्धा से युक्त वह मनुष्य अपना मनोवांछित फल मेरी कृपा से उस देवता के द्वारा पा लेता है. (७.२२)

अध्याय ८ : अक्षरब्रह्मयोग

हे पुरूषोत्तम, ब्रह्म क्या है, उसका स्वरुप क्या है. अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है. नाशवान कौन है. इस नश्वर देह में नित्य रहने वाला कौन है. देवता आदि कौन हैं. आप अविनाशी परमात्मा को स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य अन्त समय में भी किस प्रकार याद रख सकते हैं. (८.१-२)

भगवान श्रीकृष्ण बोले— हे अर्जुन, परम अक्षर ही कभी क्षर ना होने वाला ब्रह्म है. इसी ब्रह्म की क्रियात्मक सृजनशक्ति ही कर्म है. प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा का अन्तरात्म भाव ही अध्यात्म है. निरन्तर परिवर्तनशील व क्षर भौतिक शरीरधारी प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित मैं ही आत्मा हूं. इस सृजन-यज्ञ का मैं ही स्वामी हूं. (८.०४) जीव आजीवन जिस भाव का चिन्तन करता है, वही भाव उसे जीवन के अन्तिम क्षण में भी स्मरण रहता है, और वह (मृत्योपरांत) उसी भाव को प्राप्त करता है.

(८.०६) इसलिए सदा मुझे व अपने कर्त्तव्य को ही स्मरण रखना चाहिऐ. यदि तुम्हारा मन व बुद्धि सदा मुझमें स्थिर है, तो तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त कर सकोगे. (८.०७) जीवन के अन्तिम समय में भी इसी प्रकार तुम अपना चरम् लक्ष्य स्मरण रख पाओगे. अतएव मुझे न केवल सदा सर्वदा स्मरण रखो वरन् अपना ध्येय भी मुझे ही बना लो.

जो भक्त मुझे स्थिर भाव से सर्वदा भजता है, मैं उसे सहज ही प्राप्त हो सकता हूं. (८.१४) स्वर्ग तक के सभी लोकों व ब्रह्मलोक तक पहुंच कर भी मनुष्य आवगमन के बन्धन से मुक्त नहीं होता. परन्तु मेरे परमधाम को पहुंच कर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता. (८.१६)

अध्याय ९ : शाश्वत-ज्ञान का गूढ़ रहस्य (राजविद्या)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– तुम जैसे संशयरहित भक्त के हेतू अब मैं परम् गोपनीय, ब्रह्म-ज्ञान के रहस्य को, उजागर करता हूं, जिसे सुन कर तुम आवागमन के दुश्चक्र से मुक्ति पा जाओगे. (९.०१). हे अर्जुन यह तत्त्व-ज्ञान सब विद्याओं का राजा, अत्यन्त पवित्र, सुगम-साध्य, धर्म-युक्त व अविनाशी है. (९.०२)

यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड मेरा ही विस्तार है. सभी जीव मुझ में स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूं. (तात्पर्य यह कि, मुझसे भिन्न कुच्छ भी नहीं है). (९.०४) मेरे संकल्प के द्वारा उत्पन्न समस्त जीव मुझमें उसी प्रकार स्थित हैं, जिस प्रकार आकाश में सवर्त्र विचरण करने वाली वायु सदा आकाश में स्थित रहती है, परन्तु आकाश उससे सदा अप्रभावित रहता

है. (९.०६) मैं अपनी प्रकृति द्वारा समस्त जीवों को बारम्बार उत्पन्न करता रहता हूं. (९.०८) परन्तु यह रचना मुझे प्रभवित नहीं करती अर्थात इन सबका बार-बार सृजन करते हुऐ भी कर्म मुझे प्रभावित नहीं करता, क्योंकि मैं कर्म से सदा अलिप्त, अनासक्त व उदासीन रहता हूं. (९.०९) मेरी आज्ञा से यह प्रकृति इस सम्पूर्ण चराचर जगत को रचती है व चलायमान रखती है. (९.१०)

जो भक्त अनन्य भक्ति द्वारा निष्काम भाव से मेरा निन्तन करते हैं उन सब का योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं. (९.२२) हे अर्जुन, यद्यपि श्रद्धावान सकाम भक्त अन्य देवताओं का पूजन करते हैं वे भी वास्तव में मेरा ही पूजन करते हैं (९.२३) मुझे यदि कोई एक पत्ता, फूल, फल, या केवल जल भी श्रद्धापूर्वक शुद्ध भाव से अर्पण करता है, तो मैं उसे स्वीकार करके खा लेता हूं. (९.२७) श्रद्धा व प्रेम अर्पण से ही मुझ परमात्मा की कृपा पाई जा सकती है. मुझे पाने के लिऐ किसी और विधि की आवश्यकता नहीं है.

हे अर्जुन, मैं सभी प्राणियों में समभाव रखता हूं. मेरे लिए कोई भी घृणा या प्रेम का पात्र नहीं है. परन्तु जो भक्ति-पूर्वक मुझे भजते हैं, मेरे अन्तरंग हैं (९.२९) यदि कोई घोर पापी भी मुझमें दृढ़ श्रद्धा व निष्ठा रखता है, तो उसे भी साधु ही समझना चाहिए क्योंकि वह मेरी भक्ति में अडिग है. (९.३०) हे अर्जुन, मेरे भक्त का कभी भी पतन नहीं होता. (९.३१) ऐसा कोई भी पापी या पापकर्म नहीं है, जिसे मैं क्षमा नहीं कर सकता.

मेरी शरण में आ कर प्रत्येक मनुष्य मेरे परमधाम को प्राप्त कर सकता है. (९.३२) हे अर्जुन, सदा मुझमें दृढ़ विश्वास रख, मुझे ही नमस्कार कर और सदा मुझे ही भज. इस प्रकार मुझमें तल्लीन हो कर और मझे अपना आराध्य बना कर तुम अवश्य ही मझे प्राप्त करोगे (९.३४)

अध्याय १० ः परमात्मा की महिमा

हे अर्जुन, न तो देवता और न महर्षि ही मेरी उत्पत्ति या महिमा को जानते हैं, क्योंकि इन सभी का भी उद्‌गम मुझमें है. (१०.०२) जो मुझे अजन्मा, अनादि, अनंत व ब्रह्मांड के स्वामी के रूप में जानता है, वही ज्ञानी और पापमुक्त होता है. (१०.०३)

बुद्धि, आत्मज्ञान, मोह, मुक्ति, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह व मन-निग्रह, सुख, दुःख, तुष्टि, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतुष्टि, संयम, दान, यश, अपयश आदि विविध गुण मेरे ही द्वारा उत्पन्न होते हैं. (१०.०४-०५)

ज्ञानी जन इसे जानते हुऐ, अपना चित्त मुझमें स्थिर करके, श्रद्धा व भक्ति से मेरा पूजन करते हैं. (१०.०८-०९) और मैं उन्हें मुझ तक पहुँचने का ज्ञान प्रदान करता हूं. (१०.१०)

महात्मा अर्जुन ने कहा– हे कृष्ण, आपने मुझे सब कुच्छ पूर्णतया सत्य ही कहा है. हे प्रभु, न तो देवतागण, और न ही असुरगण आपके ऐश्वर्य को जान सकते हैं. हे परमपिता, हे सबके उद्‌गम, हे परमपुरूष और समस्त ब्रह्मांड

के स्वामी, एकमात्र आप ही अपने स्वरूप को जानते हैं. (१०.१५).

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन, अब मैं तुम्हे अपने मुख्य वैभव युक्त रूपों का वर्णन करूंगा. (१०.१९). हे अर्जुन, मेरा वैभव असीमित है. समस्त वैभव, तेज, और शक्तियाँ, मेरे ऐश्वर्य के एक लघु अंश मात्र से प्रकट होती हैं. (१०.४२)

अध्याय ११ : ईश्वर का विराट् स्वरूप

महात्मा अर्जुन ने कहा– प्रभु आप वही हैं, जैसा आपने अभी अपना वर्णन किया है, तब भी हे परमात्मा, मैं आपके विराट् रूप का दर्शन करना चाहता हूँ. (११.०३) हे परमेश्वर, यदि आप उचित समझें तो मुझे आप अपने विराट् विश्वरूप के दर्शन कराने की कृपा करें. (११.०४)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– हे अर्जुन, अब तुम मेरे ऐश्वर्य को, सैंकड़ों, हजारों प्रकार के दैवी और विविध रंगों वाले रूप को देखो. लो समस्त देवताओं, ११ रूद्रों, १२ आदित्यों, ८ वसुओं, (दोनों) अश्विनिकुमारों और ४९ मरूद्गणों को तथा और भी विभिन्न आश्चर्यजनक रूपों को देख लो, जिन्हें ना पहले कभी किसी ने देखा, और ना ही सुना. हे अर्जुन, तुम जो भी (युद्ध-परिणाम आदि) देखना चाहो, उसे तत्क्षण मेरे इस शरीर में देखो.(११.०५-०७) किन्तु तुम मुझे अपने इन मानवीय चक्षुओं (नेत्रों) से देखने में असमर्थ हो, अतः मैं तुम्हें दिव्य चक्षु (दृष्टि) प्रदान करता हूँ, जिससे तुम मेरा ईश्वरीय योग ऐश्वर्य भी देख सकोगे.

(११.०८) महात्मा अर्जुन ने एक साथ विभिन्न रूपों में विभक्त समस्त ब्रह्मांड को भगवान श्रीकृष्ण के हजारों सूर्यों के समान उद्दीप्तमान् शरीर में देखा. (११.१३) अर्जुन बोले– हे देव, मैं आपके शरीर में समस्त देवताओं को, प्राणियों के अनेक समुदायों को, कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी, महादेवजी, समस्त ऋषिगण और दिव्य सर्पों को देख रहा हूं. (११.१५) हे विश्वेश्वर, आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूं. हे विश्वरूप, मैं आपके न अन्त को देखता हूं, न मध्य को और न आदि को ही. (११.१६) मैं आपके मुकुट, गदा और चक्र धारण किये सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुंज जैसा; प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान ज्योति वाले तथा नेत्रों द्वारा देखने में अत्यन्त कठिन और अपरिमित रूप को देख रहा हूं. (११.१७) महात्मा अर्जुन ने कहा– हे प्रभु, आप ही परम ध्येय व ज्ञेय हैं. आप ही इस ब्रह्मांड के आधार हैं. आप ही परमात्मा हैं व इस सनातन धर्म के पालक हैं. (११.१८) हे प्रभु आप ही आदि, मध्य, और अन्त तक स्वर्ग व पृथ्वी के बीच समस्त अवकाश और व्योम में चहु ओर व्याप्त हैं आप के इस अद्‌भुत और भयानक रूप को देख कर तीनों लोकों में भय व्याप्त है. (११.२०) हे महाबाहो, आपके बहुत मुखों तथा नेत्रों वाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं तथा पैरों वाले, बहुत पेटों तथा बहुत-सी भयंकर दाढ़ों वाले महान् रूप को देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूं. (११.२३) हे विष्णु, आकाश को छूते हुये देदीप्यमान, अनेक रंगों वाले फैले हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से

युक्त आपको देखकर मैं भयभीत हो रहा हूं तथा धीरज और शान्ति नहीं पा रहा हूं. (११.२४) आपके विकराल दाढ़ों वाले, प्रलय की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है. इसलिए हे देवेश, हे जगत के पालन कर्ता, आप प्रसन्न हों. (११.२५) आप सब लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं; और हे विष्णु, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत को परिपूर्ण करके तपा रहा है. (११.३०) (कृपया) मुझे यह बतायें कि उग्ररूप वाले आप कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ, आपको मेरा नमस्कार, आप मुझसे प्रसन्न हों. हे आदि पुरुष, मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूं, क्योंकि मैं आपका प्रयोजन नहीं समझ पा रहा हूं. (११.३१)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– मैं ही मृत्यु हूं, और ब्रह्मांड का विनाशक भी हूं. मैं यहाँ सभी योद्धाओं का काल बन कर आया हूँ. तुम्हारे युद्ध में भाग ना लेने पर भी तुम पाण्डवों के सिवा दोनों सैन्यदलों के सभी योद्धा मारे जाएंगे. (११.३२) इसलिए हे अर्जुन उठो और युद्ध करके यश अर्जित करो. अपने शत्रुओं पर विजय पाओ व निष्कंटक राज्य का उपभोग करो. ये सभी योद्धा मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं. हे अर्जुन, (इन योद्धाओं के विनाश हेतु, मेरे द्वारा रचित) (इस युद्ध में) तुम तो केवल एक निमित्त मात्र हो. (११.३३)

हे अर्जुन, वेदाध्ययन, तपश्चर्या, दान, और पूजा-पाठ आदि किसी भी मार्ग से मेरे इस रूप में मुझे कोई नहीं देख सकता जिसमें तुमनें अभी मुझे देखा है. (११.५३) केवल

अखंड भक्ति से ही मुझे जाना जा सकता है. (११.५४) जो भक्त, सकाम कर्म से मुक्त हो कर, अनासक्त हो कर, सभी जीवों के प्रति प्रेमसिक्त व्यवहार करे, वही मुझे प्राप्त कर सकता है. (११.५५)

अध्याय : १२ भक्ति मार्ग

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– वे जीव, जो सदा निष्ठापूर्वक मेरे सगुण रूप की भक्ति में निमग्न हैं, वे मेरे परम् भक्त हैं. (१२.०२)

जो (मुझ) अक्षर, अव्यक्त, अदृश्य, सर्वव्यापी, अज्ञेय, नित्य, अचल, निराकार, सनातन, परमात्मा की समस्त इन्द्रियों को वश में करके सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखकर, हर अवस्था में पूजा करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं. (१२.०३-०४)

परमेश्वर के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार रूप के प्रति मन के आकृष्ट न होने से मनुष्यों के लिए आत्मसाक्षात्कार अति दुरूह हो जाता है, क्योंकि देहधारियों के लिए अव्यक्त, निराकार की कल्पना अत्यन्त दुस्तर होती है. (१२.०५) वे जो मुझ परमेश्वर की अचल व अडिग भक्ति स्वरूप अर्चना करते हैं, अपने समस्त कर्म मुझे अर्पित कर देते हैं, और अविचलित हो कर मेरी पूजा करते हैं, मैं उन्हें शीघ्र ही भवसागर से तार देता हूँ. (१२.०६-७) सच्ची भक्ति वास्तव में परमेश्वर के प्रति अगाध प्रेम ही है. अतएव अपनी चित्तशक्ति को मुझमें स्थिर कर दो. इस प्रकार तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त होओगे. (१२.०८) यदि तुम इसमें अपने को

असमर्थ पाओ तो मेरे लिऐ कर्म करो, मेरा ध्यान करो, और मेरा ही चिन्तन करो. यदि यह भी ना कर सको तो कोई भी विधि अपना कर या किसी भी देवता में, जो तुम्हे पसन्द है, मुझे धारण करके, उसकी पूजा करो. (१२.०९) यदि कुछ भी ना कर सको तो अपना सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पित कर दो. ऐसा करने से तुम निश्चय ही और सहज ही मुझ तक पहुंच जाओगे. (१२.१०). यदि तुम अपना कर्म भी मुझे ना दे सको, तो मुझ पर पूर्णतया आश्रित हो जाओ, और कर्मफल की आसक्ति त्याग कर जो कुछ तुम्हें मैं दे दूँ, उसे ही मेरा प्रसाद समझ कर ग्रहण किये जाओ. (१२.११)

अध्यात्म कर्मकांड से बेहतर है, पर अध्यात्म से बढ़ कर ज्ञान और ज्ञान से बढ़ कर ध्यान है. कर्मफल में आसक्ति का त्याग, ध्यान से भी बढ़ कर है. कर्मफल पाने का स्वार्थ छोड़ कर कर्मफल में अनासक्त हो जाओ. (१२.१२)

जो किसी से घृणा नहीं करता, सभी जीवों का मित्र है, 'मैं' और 'मेरा' से मुक्त है, दुःख-सुख में समभाव है, सहिष्णु है, दयालु है, आत्मतुष्ट है, स्थिरबुद्धि है, निश्चयी है, और मन तथा बुद्धि द्वारा जिसकी लगन मुझमें है, वह मुझे प्रिय है. (१२.१३-१४) जो किसी के कष्ट का कारण नहीं बनता, सुख-दुःख से परे है, ईर्ष्यालु नहीं है, और भय व आशंका से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है. (१२.१५) जो इच्छा-मुक्त है, बुद्धिमान है, पक्षपात रहित है, और सभी शुभाशुभ कार्यों में कर्त्ता के भाव से सदा मुक्त है, ऐसा भक्तियुक्त मनुष्य मुझे प्रिय है. (१२.१६) जो शत्रु-मित्र दोनों भावों में

समान है, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी व सुख-दुःख में समभाव है, निन्दा व स्तुति जिसके लिऐ एक समान हैं, मितभाषी है, सदा संतुष्ट है, हर स्थान, देश, गृह में खुश है, ज्ञान में दृढ़ है व मेरी भक्ति में संलग्न है, ऐसा मनुष्य मुझे प्रिय है. (१२.१८-१९) जो मनुष्य भक्ति के इस अमर पथ का अनुगामी है, या इस पथ पर अग्रसर है, या इन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करता है, मुझे अत्यधिक प्रिय है. (१२.२०)

अध्याय १३ : क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग

(प्रकृति, पुरूष और चेतना अथवा ब्रह्मांड का शरीर और आत्मा में विभक्त होना)

(इस अध्याय से जीवात्मा व प्रकृति के सम्पर्क व कर्म, ज्ञान और विभिन्न प्रकार की भक्ति के द्वारा जीवात्मा के परमात्मा द्वारा उद्धार की भगवान श्रीकृष्ण द्वारा व्याख्या की गई है. यह शरीर रूपी खेत ही वह क्षेत्र है, जिसमें हम कर्म रूपी खेती करके क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं और रोपे गऐ कर्म रूपी बीजों के अनुसार कर्म-फल पाते हैं. इस बीजमंत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ कहलाता है)

हे अर्जुन, तू मुझे हर प्राणी का उद्गम जान. मैं सृष्टि का जनक हूं, व मेरे द्वारा उत्पन्न सृष्टि का ज्ञान ही अध्यात्म ज्ञान है (१३.०२)

विनम्रता, दम्भहीनता, अहिंसा, सहिष्णुता, सरलता, गुरु-सेवा, पवित्रता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रिय-दमन, निर्-अहंकार, जन्म-मृत्यु, जरा व रोगों के प्रति जागरूकता, वैराग्य, परिवार की ममता से मुक्ति, मेरी अनन्य व अडिग भक्ति, एकान्तवास की इच्छा, तथा आत्म-ज्ञान को ही परम् ज्ञान मान कर तत्त्व की खोज को ही ज्ञान कहा जाता है. शेष सब कुछ मिथ्या व अज्ञान है. (१३.०९-११)

परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है. (१३.१३) समस्त इन्द्रियों के गुण उसमें हैं, फिर भी वह इन्द्रियों से रहित है. वह सब जीवों के पालनहार हो कर भी उनमें अनासक्त है. वह प्रकृति के तीनों गुणों से अतीत है, अर्थात त्रिगुणातीत है, फिर भी त्रिगुणात्मक माया के स्वामी है. (१३.१४) सभी जड़ व चेतन पदार्थों के बाहर और भीतर स्थित है तथा अति सूक्ष्म होने के कारण वह अज्ञेय व अपरिमेय है. वे अत्यन्त दूर अपने परमधाम में स्थित हैं, परन्तु उतना ही हम सबके निकट हैं. (१३.१५) वे अविभाज्य हैं, फिर भी सब जीवों में विभाजित प्रतीत होते हैं. वे (जानने योग्य परमात्मा) ज्ञान के लक्ष्य हैं, और सभी जीवों के (कर्त्ता, ब्रह्मारूप) सृष्टिकर्त्ता, (धर्त्ता, विष्णुरूप) पालनकर्त्ता व (व हर्त्ता, रुद्ररूप) संहारक भी हैं. (१३.१६) प्रकृति व पुरुष दोनों आरम्भहीन हैं. मूलप्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण, सृष्टि और जीवात्मा ये सब भी अनादि हैं. (१३.१९-२०)

प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृतिप्रदत्त त्रिगुणात्मक पदार्थों को, पूर्वसंचित कर्मों के फलस्वरुप बाध्य हो कर, भोगने के कारण ही सुख-दुःख भोगता है, और अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है. (१३.२१) इस भौतिक शरीर में जो आत्मा है, वह साक्षी है, मार्गदर्शक है, साथी है, भोक्ता है व नियंत्रक है. (१३.२२) जो कुछ भी इस संसार में चराचर वस्तु-समुदाय है, वह सब प्रकृति व पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न होता है. (१३.२६)

जो सब ओर फैले नाशवान पदार्थों में समभाव से नाशरहित, व नित्य परमात्मा को ही देखता है, वही वास्तव

में ईश्वर का दर्शन करता है. (१३.२७) मनुष्य जब परमात्मा को सर्वत्र तथा प्रत्येक जीव में समान रूप से विद्यमान देखता हुआ, अपनी आत्मा में कोई विकार नहीं आने देता और ना ही किसी प्राणी को कोई क्लेश पहुंचाता है, वही दिव्यगति को प्राप्त होता है. (१३.२८) जो यह देखता है कि सारे कार्य प्रकृतिप्रदत्त शरीर द्वारा, ना कि आत्मा द्वारा, सम्पन्न किये जाते हैं, वही वास्तव में यथार्थ देखता है. (१३.३०) जिस प्रकार सूर्य इस ब्रह्मांड को आलोकित करता है, उसी प्रकार आत्मा समस्त प्रकृति को सत्ता-स्फूर्ति देता है (१३.३३)

जो इस प्रकार से ज्ञानचक्षुओं द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को, कि क्षेत्र नाशवान है और क्षेत्रज्ञ अविनाशी है, जान लेता है वह परब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है. (१३.३४)

अध्याय १४ : गुणत्रयविभागयोग

(प्रकृति का त्रिगुणात्मक स्वरूप)

समस्त चराचर पदार्थ, मेरे द्वारा रोपे गए बीज से जड़-भौतिक प्रकृति द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं. (१४.०३) इस भौतिक प्रकृति के तीनों (सतो, रजो, व तमो) गुण, संसर्ग में आने पर, जीव को अपने पाश में कस लेते हैं. (१४.०५)

हे निष्पाप अर्जुन, सतोगुण, निर्मल, शुद्ध व प्रकाशवान होने के कारण जीव को प्रसन्नता व ज्ञान प्रदान करके शरीर के सारे द्वारों को वास्तविक ज्ञान द्वारा आलोकित कर देता है. इन गुणों से जीव अत्यन्त शान्त, सुखी, धीर व गंभीर बन जाता है. रजोगुण असीम आकाक्षां, लोभ व तृष्णा से जन्म

लेता है. इसके कारण जीव सदा अधीर हो कर इन्द्रिय-तृप्ति की ओर उन्मुख रहता है. यह गुण अत्यधिक आसक्ति, सकाम कर्म, गहन उद्यम, अनियन्त्रित इच्छा, वासना, व लालसा द्वारा जीव को अपने पाश में बांध लेता है. इससे जीव चंचल, अशान्त, लोभी व भोगी बन जाता है. (१४.०७) अविवेक और अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण सब जीवों को मोहित करके प्रमाद, आलस्य, भ्रम, जड़ता, तम, मोह, निद्राधिक्य तथा प्रमत्तता प्रदान करता हुआ जीव को अपने आधीन कर लेता है. इस प्रकार तमोगुणी जीव सम्मूढ़, अविवेकी और तन्द्रालु बन जाता है. (१४.१९)

हे स्वामी, त्रिगुणातीत जीव का आचरण कैसा होता है और किन उपायों से इस अवस्था को प्राप्त हुआ जा सकता है? (१४.२१)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– जो (सतोगुण से उत्पन्न) प्रकाश, (रजोगुण से उत्पन्न) आसक्ति, और (तमोगुण से उत्पन्न) मोह के उत्पन्न होने पर उनसे घृणा नहीं करता व उनके लुप्त होने पर उनकी इच्छा नहीं करता और यह जान कर कि केवल भौतिक गुण ही क्रियाशील हैं, उदासीन, निश्चल व अविचलित रह कर प्रभु की भक्ति में तत्पर रहता है, वही त्रिगुणातीत है. (१४.२२-२३) जो केवल परमात्मा के पारायण है, सुख-दुःख में उदासीन है, जो मिट्टी के ढ़ेले, पत्थर व स्वर्ण को एक समान देखता है, जो शत्रु-मित्र में समभाव है, धीर है, प्रशंसा व निन्दा को एक समान मानता है, मान-अपमान में भेद नहीं करता, और जिसने सारे भौतिक कार्यों का परित्याग करके कर्म में आसक्ति का

त्याग कर दिया है, ऐसा व्यक्ति त्रिगुणातीत है. (१४.२५) जो प्रेम सहित मुझ में पूर्ण समर्पित है और अविचल भक्ति से मेरे पारायण है, तुरन्त प्रकृति के गुणों को लांघ जाता है और निर्वाण प्राप्त करता है. (१४.२६) क्योंकि, उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय मैं हूं. (१४.२७)

अध्याय १५ : शाश्वत ब्रह्म (द्वारा रचित विश्व जीवन वृक्ष)

(पुरुषोत्तम योग)

वे, जो अभिमान रहित व मोहमुक्त हैं, जो विषयासक्त नहीं हैं, और जो सदैव परमात्मा की भक्ति में उन्मुख हैं, और जिन्होंने अपनी कामनाओं और सुख-दुःख की विरोधी शक्तियों को जीत लिया है, केवल वे ही ज्ञानी मनुष्य (मेरे) परमधाम को पहुँच पाते हैं. (१५.०५)

शरीर में जीवात्मा मेरा ही नित्य व अभिन्न अंग है. यही आत्मा शरीर की पांचों ज्ञानेन्द्रियों व मन के साथ संयुक्त हो कर उन्हें चेतना प्रदान करता है. (१५.०७)

जैसे हवा फूल से गन्ध को निकालकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद छः इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है. (२.१३ भी देखें) (१५.०८) जीवात्मा इन्हीं पांच इन्द्रियों– श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, रस, गन्ध तथा छठी मन – के द्वारा विषयों का आनन्द लेता है. (१५.०९) यत्नपूर्वक साधना में लगे हुऐ मनुष्य ही अपने हृदय में स्थित इस जीवात्मा को तत्त्व से जानते हैं. (१५.११)

मैं सभी प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से आसीन हूं. स्मृति, ज्ञान, व संदेह निवारण भी मुझ से ही होता है. मैं ही सब वेदों द्वारा बताया गया जानने योग्य हूं. मैं ही सब वेदों का कर्त्ता व जिज्ञासु भी हूं. (१५.१५)

इस संसार में जीवों की केवल दो– क्षर (नाशवान) व अक्षर (अविनाशी) श्रेणियाँ हैं. संसार से जुड़े रहने तक वे सब नाशवान हैं, परन्तु आध्यात्मिक जगत् से जुड़ने पर वे अविनाशी हो जाते हैं (सातवें अध्याय के चौथे व पाँचवे श्लोक के अपरा व परा प्रकृति व तेरहवें अध्याय के पहले श्लोक के क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ को ही यहाँ पर क्षर व अक्षर कहा गया है. श्वेताश्वतरोपनिषद् में इन्हें अविद्या व विद्या कहा गया है, जिन पर परमात्मा का शासन है). (१५.१६).

इन दोनों से बद्ध व मुक्त जीवों से भिन्न, श्रेष्ठ परब्रह्म नामक एक और सत्ता भी है, जो परमात्मा रूप से क्षर व अक्षर के अन्तर में प्रवेश करके उनका पालन करती है. (१५.१७)

इसी सत्ता को वेदों में पुरुषोत्तम परम ज्ञान, परम सत्य व परमात्मा आदि नामों से जाना जाता है. (१५.१८) ज्ञानी जन इसी पुरुषोत्तम को तत्त्व रूप से जान कर उसकी भक्ति में संलग्न रहते है. (१५.१९) हे अर्जुन, इस प्रकार इस गुह्यतम, परम् गूढ़ रहस्य को मैंने तुझे बताया. इस रहस्य को जान कर मनुष्य बुद्धिमान हो जाता है व उसके सभी कर्त्तव्य रूप प्रयास सफल हो जाते हैं. (१५.२०) (श्री गीता के इस अध्याय में संसार, जीवात्मा व परमात्मा का एकसाथ निरूपण किया गया है, इसलिऐ, इस श्लोक में कहा गया है, कि यह अध्याय ‘ ” ’ शास्त्र ” ” ’ ’ है)

अध्याय ः १६ दैवी व आसुरी स्वभाव

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– हे अर्जुन, अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, दया, विषयों से न ललचाना, कोमलता, अकर्तव्य में लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, किसी से वैर न करना, गर्व का अभाव आदि दैवी संपदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (छब्बीस) लक्षण हैं. (१६.०१-०३)

हे पार्थ, इस लोक में दो ही जाति के मनुष्य हैं – दैवी और आसुरी. दैवी प्रकृति वालों का वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक किया, अब तुम आसुरी प्रकृति वालों के बारे में सुनो. (१६.०६) आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य "क्या करना चाहिये तथा क्या नहीं करना चाहिये" इन दोनों को नहीं जानते हैं. उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न सदाचार और न सत्यभाषण ही. (१६.०७)

वे कहते हैं कि संसार असत्य, आश्रयरहित, बिना ईश्वर के और बिना किसी क्रम से अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के कामुक संयोग से ही उत्पन्न है. इसके सिवा और कोई भी दूसरा कारण नहीं है. (१६.०८) ऐसे (मिथ्या, नास्तिक) दृष्टिकोण से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, ऐसे मन्द बुद्धियुक्त, घोर कर्म करने वाले, अपकारी मनुष्यों का जन्म जगत का नाश करने के लिये ही होता है. (१६.०९) वे

दम्भ, मान और मद में चूर होकर; कभी पूरी न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर; अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके तथा अपवित्र आचरण धारणकर संसार में रहते हैं. (१६.१०) जीवनभर अपार चिन्ताओं से ग्रस्त और विषयभोग को ही परम लक्ष्य मानने वाले ये लोग ऐसा समझते हैं कि यह विषयभोग ही सब कुछ है. (१६.११) आशा की सैकड़ों बेड़ियों से बन्धे हुए, काम और क्रोध के वशीभूत होकर, विषयों के भोग के लिये अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं. (१६.१२)

(वे ऐसा सोचते हैं कि) मैंने आज यह प्राप्त किया है और अब इस मनोरथ को पूरा करूंगा, मेरे पास इतना धन है तथा इससे भी अधिक धन भविष्य में होगा. (१६.१३) वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा. मैं सर्वसमर्थ (ईश्वर) और ऐश्वर्य को भोगने वाला हूं. मैं सिद्ध, बलवान और सुखी हूं (१६.१४) मैं बड़ा धनी और अच्छे परिवार वाला हूं. मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और मौज करूंगा. इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित रहते हैं. (१६.१५) अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले, मोह जाल में फंसे, विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त, ये लोग घोर अपवित्र नरक में गिरते हैं. (१६.१६) अपने आपको श्रेष्ठ मानने वाले, घमंडी, धन और मान के मद में चूर रहने वाले मनुष्य अविधिपूर्वक केवल नाममात्र के दिखावटी यज्ञ करते हैं. (१६.१७)

अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध के वशीभूत; दूसरों की निन्दा करने वाले ये लोग अपने और दूसरों के

शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं. (१६.१८) ऐसे द्वेष करने वाले, क्रूर और अपवित्र नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूं. (१६.१९) हे अर्जुन, वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं, फिर घोर नरक में जाते हैं. (१६.२०)

काम, क्रोध और लोभ, ये जीव को नरक की ओर ले जाने वाले तीन द्वार हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना (सीखना) चाहिए. (म.भा. ५.३३.६६ भी देखें) (१६.२१) परनिन्दा एक भयंकर दोष है, जिससे वक्ता का मस्तिष्क विकृत होता है, तथा कोई लाभ भी नहीं होता. अपना शास्त्र-विहित कर्त्तव्य करते हुऐ, सभी मनुष्यों को सदैव ऊपर उठने की कामना रखनी चाहिऐ. (१६.२४)

अध्याय १७ : श्रद्धा के तीन आयाम
(श्रद्धात्रयविभागयोग)

महात्मा अर्जुन ने कहा– हे कृष्ण, वे मनुष्य, जो शास्त्रीयविधान रहित केवल श्रद्धा युक्त होकर देवादि पूजन करते हैं, वे सात्त्विक, राजसिक या तामसिक, क्या कहलाऐ जाऐंगे. (१७.०१)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– मनुष्यों की श्रद्धा सात्त्विक, राजसिक या तामसिक, किसी भी प्रकार की हो सकती है.

अब मैं तुम्हें इनके विषय में (विस्तार पूर्वक) कहूंगा. (१७.०२) हे अर्जुन, मनुष्यों की श्रद्धा उनके कर्मों के प्रभाव से तदानुसार विकसित होती है और इन्हीं के द्वारा मनुष्य पहचाना जाता है. इच्छित पदार्थ का विश्वास पूर्वक चिन्तन करने से मनुष्य वैसा ही गुण अर्जित कर सकता है. (१७.०३) सतोगुणी मनुष्य देवताओं को, राजसी यक्षों व राक्षसों को व तामसिक मनुष्य भूत-प्रेतों को पूजना पसन्द करते हैं १७.०४)

सतोगुणी मनुष्य
❖ आयु, बुद्धि, बल, सुख, प्रसन्नता व स्वास्थय बढ़ाने वाले, रसमय, चिकने व स्थिर भोज्य पदार्थ पसंद करते हैं (१७.०८) ❖ कर्म-फल में आसक्त हुऐ बिना निष्काम भाव से सेवा करते हैं ❖ देवताओं व देवदूतों का पूजन करते हैं ❖ सबके हित की कामना से सत्य संभाषण करते हैं, व कोमल, संयमित और अत्यन्त मृदुवाणी बोलते हैं. ❖ वैदिक साहित्य का पारायण करते हैं. (१७.१५) सतोगुणी व्यक्ति, निर्मल, सरल, व शांत स्वभाव के, भद्र, शिष्ट, कुलीन, दंभ-हीन, उच्च पवित्र व शुद्ध अन्तःकरण वाले संयमी मनुष्य होते हैं. वे कर्त्तव्य-पूर्वक बिना किसी प्रत्युपकार की भावना से सुपात्र को दान देते हैं.

राजसिक मनुष्य

- दुःख, चिन्ता और रोगों को बढ़ाने वाले, बहुत कड़वे, गरम, तीखे, रूखे, मसालेदार, दाहकारक, बहुत नमकीन अथवा बहुत मीठे भोज्य पर्दाथों को पसंद करते हैं. (१७.०९)
- यक्षों (कुबेरादि) व राक्षसों का पूजन करते हैं.

दिखावे के लिए या सम्मान अर्जित करने के लिऐ, या फिर अनिच्छा-पूर्वक दानादि कर्म करते हैं. वे ये भी नहीं जानते कि ऐसा फल शाश्वत या स्थायी नहीं होता. (१७.१८)

तामसिक मनुष्य

- अध-पका,रसरहित (रुखा-सूखा), दुर्गन्ध-युक्त, बासी, उच्छिष्ट (जूठा) और अपवित्र भोजन करते हैं
- भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं
- देश, काल, और पात्र का विचार बिना अथवा पात्र का अनादर या तिरस्कार करके या कुपात्र को दान देते हैं (१७.२२)
- दम्भी, ढ़ोंगी, व अहंकारी होते हैं
- शास्त्र-विरूद्ध कठोर तपस्या व ब्रतादि करते हैं
- दूसरों को दुःख पहुंचाना ही उनका प्रिय कार्य है

हे अर्जुन, श्रद्धा-विहीन भाव से किया हुआ यज्ञ, तप या दानादि कर्म, इहलोक व परलोक, दोनों में व्यर्थ जाता है. (१७.२८)

अध्याय १८ : वैराग्य द्वारा आत्मसिद्धि

महात्मा अर्जुन ने कहा– हे प्रभु, मैं सन्यास व त्याग का उद्देश्य व इनका स्वरूप और भेद जानना चाहता हूं. (१८.०१)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– ज्ञानी लोग भौतिक इच्छाओं पर आधारित कर्मों के त्याग को सन्यास व समस्त कर्मों के अभिलाषित फल के त्याग को ही त्याग कहते हैं. (१८.०२) परन्तु कर्म त्यागना उचित नहीं है. मोहग्रस्त हो कर समस्त निर्दिष्ट कर्त्तव्यों को त्यागना बुद्धिमता नहीं है, क्योंकि यज्ञ, दान व तपस्या कर्मों को तो अवश्य करना चाहिऐ. (१८.०३) निस्संदेह, किसी भी प्राणी के लिए समस्त कर्मों का त्याग करना असंभव है, इसलिए जो प्राणी कर्मफल को त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी है. (१८.११)

कर्म के ये पाँच कारण हैं –

- कर्ता का शरीर
- प्रकृति के तीनों गुण, कर्ता
- ११ इन्द्रियाँ (५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, व एक मन)
- पांच प्राण, और
- इन्द्रियों के निर्दिष्ट देव या परमात्मा

मनुष्य अपने शरीर, मन या वाणी से जो भी उचित या अनुचित कर्म करता है, वह इन्हीं पांच कारणों के फलस्वरूप होता है. (१८.१५)

कर्म में प्रवृत्ति की प्रेरणा देने वाले भी तीन कारण हैं ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञाता (अर्थात ज्ञान, जानने योग्य व जानने वाला). कर्म करने के तीन ही साधन हैं– ११ इन्द्रियाँ, स्वयं कर्म तथा कर्म करने वाला. (१८.१८)

मानव जीवन के चार करने योग्य कर्म हैं–

- अपना कर्त्तव्य भली-भांति निभाना
- धनोपार्जन करना
- इन्द्रिय-निग्रह व इन्द्रियों का सावधानी से उपभोग
- निर्वाण प्राप्त करना

प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म व कर्त्ता के ३-३ भेद निम्न प्रकार हैं. इन्हे निम्न प्रकार से समझाया गया है. (१८.१९)

प्रकृति के तीन गुण ☞	सात्त्विक	राजसिक	तामसिक
ज्ञान	अनन्त रूपों में विभक्त सारे जीवों में एक ही अविभक्त आध्यात्मिक	विभिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न प्रकार के जीवों को देखना (१८.२१)	किसी एक ही तुच्छ कार्य को सब कुछ मान कर सत्य को जाने बिना

	प्रकृति को देखना (१८.२०)		उसमें लिप्त रहना (१८.२२)
कर्म	जो कर्म नियमित हैं और जो आसक्ति, राग-द्वेष से रहित कर्मफल की चाह के बिना किया जाए, वह सात्त्विक कर्म है (१८.२३)	अपनी इच्छा पूर्ती के लिए, प्रयास पूर्वक एवं मिथ्या अहंकार से कार्य करना (१८.२४)	मोहवश ऐसा कर्म करना जो शास्त्रविरूद्ध हो, हिंसापूर्ण हो, और दूसरों को दुःख देने के लिए किया जाऐ (१८.२५)
कर्त्ता (ज्ञाता)	जो भौतिक गुणों के संसर्ग के बिना, अहंकाररहित, संकल्प व उत्साह से कर्म करे व सफलता तथा असफलता में अविचलित रहे वह सात्त्विक कर्त्ता कहलाता है (१८.२६)	जो कर्त्ता कर्म व कर्मफल के प्रति आसक्त होकर फल का भोग करे व लोभी, सदा ईष्यार्लु, अपवित्र, व सुख-दुःख में विचलित होने वाला हो, वह राजसिक कर्त्ता कहलाता है (१८.२७)	जो सदैव शास्त्रों के आदेश के विरूद्ध हो, भौतिक वादी, हठी, कपटी व अन्य जनों का अपमान करने में पटु है, और जो आलसी, खिन्न, व कार्य करने में दीर्घ-सूत्री हो वह तामसिक कर्त्ता कहलाता

			है (१८.२८)

गुणों के अनुसार बुद्धि, संकल्प व सुख के निम्न भेद हैं– (१८.३० से १८.३९)

प्रकृति के तीन गुण	सात्त्विक	राजसिक	तामसिक
बुद्धि	जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, भय-अभय, मुक्ति-बंधन को यथार्थ रूप से जान ले, वह बुद्धि सात्त्विक होती है (१८.३०)	जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म को तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को ठीक प्रकार ना जान सके, वह बुद्धि राजसिक होती है (१८.३१)	जो बुद्धि अज्ञान के कारण अधर्म को ही धर्म मान ले, और इसी प्रकार सब चीजों को उल्टा मान ले, वह तामसिक होती है (१८.३२)
संकल्प	जिस संकल्प के द्वारा केवल परमात्मा को ही जानने के ध्येय से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की	फल की इच्छा वाला मनुष्य जिस संकल्प के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को अत्यन्त आसक्ति पूर्वक	बुद्धिहीन मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और लापरवाही को नहीं छोड़ता है,

	क्रियाओं को धारण करता है, वह संकल्प सात्त्विक है (१८.३३)	धारण करता है, वह संकल्प राजसिक है. (१८.३४)	वह संकल्प तामसिक कहा जाता है. (१८.३५)
सुख– मनुष्य को साधना से प्राप्त सुख से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है. (१८.३६)	ऐसे आत्मबुद्धिरूपी प्रसाद से उत्पन्न सुख को – जो आरम्भ में विष की तरह, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है – सात्त्विक सुख कहते हैं. (१८.३७)	इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न सुख को – जो भोग के समय तो अमृत के समान लगता है, परन्तु जिसका परिणाम विष की तरह होता है – राजसिक सुख कहा गया है. (५.२२ भी देखें) (१८.३८)	निद्रा, आलस्य और लापरवाही से उत्पन्न सुख को, जो भोगकाल में तथा परिणाम में भी मनुष्य को भ्रमित करने वाला होता है, तामसिक सुख कहा गया है. (१८.३९)

इस लोक में, स्वर्ग में, या देवताओं के मध्य में कोई भी ऐसा नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो (१८.४०) हे अर्जुन, कर्म का विभाजन भी मनुष्य के गुणों से उत्पन्न स्वभाव के अनुसार चार वर्णों – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – में किया गया है. (१८.४१)

शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सत्यवादिता, ज्ञान, विवेक और आस्तिक भाव – ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४२) शौर्य, तेज, दृढ़ संकल्प, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और शासन करना– ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४३) खेती, गौ-पालन तथा व्यापार – ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्र का स्वाभाविक कर्म सेवा करना है. (१८.४४) मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म करते हुए परम सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे तुम मुझसे सुनो. (१८.४५) जिस परब्रह्म परमात्मा से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, उसका अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है. (९.२७, १२.१० भी देखें) (१८.४६) अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है, क्योंकि (निष्काम भाव से) अपना स्वभाविक कार्य करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता है. (१८.४७) हे अर्जुन, अपने दोषयुक्त सहज स्वाभाविक कर्म का भी त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे धुएं से अग्नि लिप्त होती है, वैसे ही सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं. (१८.४८) आसक्ति रहित, इच्छा रहित और जितेन्द्रिय मनुष्य संन्यास (अर्थात् सकाम कर्मों के परित्याग) के द्वारा (कर्म के बन्धन से मुक्त होकर) परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त करता है. (१८.४९)

अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह–

- कर्मफल में अपनी स्वार्थपूर्ण आसक्ति ना रखे

- अपना स्वाभाविक कर्म, अपनी भरपूर क्षमता व दक्षता से, परमात्मा के लिए करे
- अध्यात्म द्वारा अपनी बुद्धि का विकास करे
- दृढ़ता से मन और इन्द्रियों को वश में रखे
- इच्छा-अनिच्छा का त्याग कर दे
- एकान्त प्रिय बने
- मितभोजी बने (अर्थात कम भोजन करे, जितना प्राण-रक्षा के लिए आवश्यक हो)
- मन, वाणी व कर्मेन्द्रियों को संयमित करे
- ममत्व को त्याग दे (मैं, मुझे, और मेरा से बचे)
- अहंकार, बल-प्रदर्शन, क्रूरता, दर्प (घमंड), वासना, क्रोध व स्वामित्व को त्याग दे (१८.५१-५३)

उपरोक्त प्रसन्न चित्त वाला साधक न तो किसी के लिये शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा ही करता है. ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है. (१८.५४) वह सम्पूर्ण श्रद्धा द्वारा मुझे तत्त्व रूप से जान लेता है. (१८.५५) अपने समस्त कर्मों को श्रद्धा व भक्ति द्वारा मुझे अर्पण करके, शान्ति-पूर्वक अपना चित्त मुझ में लगा. (१८.५७)

हे अर्जुन, यदि तुम अहंकार वश मेरे इस उपदेश की अवहेलना करके युद्ध नहीं करोगे, तो तुम्हारा यह सोचना मिथ्या है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हे बलात् ही युद्ध में प्रवृत्त कर देगा (१८.५९) हे अर्जुन, तुम अपने स्वाभाविक

(युद्ध रूपी) कर्म (के संस्काररूपी बन्धनों) से बंधे हो, अतः भ्रमवश जिस काम को तुम नहीं करना चाहते हो, उसे भी तुम विवश होकर करोगे. (१८.६०) हे अर्जुन, ईश्वर (अर्थात् श्रीकृष्ण ही) सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर अपनी माया के द्वारा प्राणियों को यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतली की तरह घुमाता रहता है. (१८.६१) तुम मुझ में अपना मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो. ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे. मैं तुम्हें यह सत्य वचन देता हूं, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो. (१८.६५) सम्पूर्ण धर्मों का (अर्थात् पुण्य कार्यों का भी) परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ. शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बन्धनों) से मुक्त कर दूंगा. (१८.६६)

(गीता के) इस गुह्यतम ज्ञान को तपरहित और भक्तिरहित व्यक्तियों को, अथवा जो इसे सुनना नहीं चाहते हों, अथवा जिन्हें मुझ में श्रद्धा न हो; उन लोगों से कभी नहीं कहना चाहिए. (१८.६७) जो व्यक्ति इस परम गुह्य ज्ञान का मेरे भक्तजनों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरी यह सर्वोत्तम परा भक्ति करके निस्सन्देह मुझे प्राप्त होगा. उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला कोई मनुष्य नहीं होगा; और न मेरा उससे ज्यादा प्रिय इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा. (१८.६८-६९) जो व्यक्ति हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊंगा– यह मेरा वचन है. (१८.७०) तथा जो श्रद्धा पूर्वक –बिना आलोचना किये – इसे सुनेगा, वह भी सम्पूर्ण पापों

से मुक्त होकर पुण्यवान लोगों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा. (१८.७१) हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर इसे सुना? और हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञान जनित भ्रम पूर्णरूप से नष्ट हुआ? (१८.७२) अर्जुन बोले– हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है. अब मैं संशयरहित हो गया हूं और मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा. (१८.७३)

उपसंहार
भगवान श्रीकृष्ण का अन्तिम संदेश

उद्धवजी की प्रार्थना पर भगवान श्रीकृष्ण ने आधुनिक युग के लिए आत्मबोध के जिन अनिवार्य तत्त्वों का वर्णन किया, वे निम्नलिखित हैं–

(१) बिना स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के मेरे (प्रभु के) लिए अपनी क्षमता के अनुरूप अपने कर्तव्य का पालन करो. किसी कार्य के प्रारम्भ करने से पहले, कार्य सम्पन्न होने के बाद और निष्क्रिय होते समय भी सदा मेरा स्मरण करो. (२) मनसा-वाचा-कर्मणा सब जीवों में मेरा ही दर्शन करने का अभ्यास करो और मन से सब के सम्मुख झुककर प्रणाम करो. (३) अपनी प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करो और मन, इन्द्रियों तथा श्वासों और भावों की क्रियाओं के माध्यम से प्रतिक्षण अपने भीतर भगवान की शक्ति को देखो, जो तुम्हें मात्र माध्यम के रूप में प्रयोग कर सतत सब कार्य कर रही है.

श्री गीता चालीसा

(दैनिक पाठ के लिए)

ॐ श्री हनुमते नमः

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥२॥

धृतराष्ट्र बोले — हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या-क्या किया ? (१.०१)

संजय बोले— इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसू भरे, व्याकुल नेत्रों वाले, शोकयुक्त अर्जुन से भगवान श्रीकृष्ण ने कहा. (२.०१) श्रीभगवान बोले — हे अर्जुन, तू ज्ञानियों की तरह वातें करते हो, लेकिन जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए शोक करते हो. ज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं करते. (२.११) जैसे इसी जीवन में जीवात्मा बाल, युवा, और वृद्ध शरीर प्राप्त करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के वाद दूसरा शरीर प्राप्त करता है. इसलिए धीर पुरुष को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए. (२.१३) जैसे मनुष्य पुराने

वस्त्रों को उतार कर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के वाद पुराने शरीर को त्याग कर नया शरीर प्राप्त करता है. (२.२२) सुख-दुःख, लाभ-हानी, और जीत-हार की चिन्ता न करके मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य कर्म करना चाहिए. ऐसे भाव से कर्म करने पर मनुष्य को पाप (या कर्म का बन्धन) नहीं लगता. (२.३८) केवल कर्म करना ही मनुष्य के वश में है, कर्मफल नहीं. इसलिए तुम कर्मफल की आसक्ति में न फंसो, तथा अपने कर्म का त्याग भी न करो. (२.४७) कर्मफल की आसक्ति त्याग कर काम करने वाला निष्काम कर्मयोगी इसी जीवन में पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, इसलिए तू निष्काम कर्मयोगी वन. निष्काम कर्मयोग को ही कुशलता पूर्वक कर्म करना कहते हैं. (२.५०) जैसे जल में तैरती नाव को तूफान उसे अपने लक्ष्य से दूर ढ़केल देता है, वैसे ही इन्द्रिय सुख मनुष्य की बुद्धि को गलत रास्ते की ओर ले जाता है. (२.६७)

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपने आपको कर्ता समझ लेता है, तथा कर्मफल के बंधनों से बंध जाता है. मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की केवल एक कठपुतली मात्र है. (३.२७) आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन, आदि से किए हुए शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४३)

हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्मकी हानी और अधर्म की बृद्धि होती है, तब मैं, परब्रह्म परमात्मा, प्रकट होता हूं. (४.०७) मेरे द्वारा ही चारो वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव, और रुचि

अनुसार बनाए गए हैं. सृष्टि के रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझ परमेश्वर को अविनाशी तथा अकर्ता ही जानना चाहिए, क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं. (४.१३) जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है वही ज्ञानी, योगी, तथा समस्त कर्मों का करने बाला है. (अपने को कर्ता नहीं मान कर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है.) (४.१८) यज्ञ का अर्पण, धी, अग्नि, तथा आहुति देनेवाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है. इस तरह जो सब कुछ परमात्मा स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है. (४.२४) कर्मयोग मनुष्य के चित्त और बुद्धि को शुद्ध करके उसके सभी कर्मों को पवित्र कर देता है. ठीक समय आने पर शुद्ध बुद्धि द्वारा योगी ईश्वर का दर्शन करता है. (४.३८)

हे अर्जुन, कर्मयोग की निःस्वार्थ सेवा के बिना शुद्ध संन्यास-भाव, अर्थात सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग, प्राप्त होना कठिन है. निष्काम कर्मयोगी शीघ्र ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है. (५.०६) जो मनुष्य कर्मफल में लोभ और आसक्ति त्यागकर, सभी कर्मों को परमात्मा में अर्पण करता है, वह कमल के पत्ते की तरह पापरूपी जल से कभी लिप्त नहीं होता. (५.१०)

जो मनुष्य सब जगह तथा सब में मुझ परब्रह्म परमात्मा को ही देखता है, और सबको मुझ में ही देखता है, मैं उससे अलग नहीं रहता तथा वह भी मुझ से दूर नहीं होता. (६.३०)

हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम पुरुष — दुःख से पीडित, परमात्मा को जानने की इच्छा बाले जिज्ञासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छा बाले, तथा ज्ञानी — मुझे भजते हैं. (७.१६)

अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर कि "यह सव कुछ कृष्णमय है," मनुष्य मुझे प्राप्त करते हैं; ऐसे महात्मा बहुत दुर्लभ हैं. (७.१६) अज्ञानी मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के — मन, बुद्धि, तथा वाणी से परे, परम अविनाशी — दिव्यरूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूप वाला निराकार हूं, तथा रूप धारण करता हूं. (७.२४)

हे अर्जुन, मनुष्य मरने के समय जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह सदा उस भाव के चिन्तन करने के कारण उसी भाव को प्राप्त होता है. (८.०६) इसलिए हे अर्जुन, तू सदा मेरा स्मरण कर, और अपना कर्तव्य कर. इस तरह मुझ में अर्पण किए मन और बुद्धि से युक्त होकर निःसन्देह तुम मुझको ही प्राप्त होगा. (८.०७) हे अर्जुन, जो मुझ में ध्यान लगा कर नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त होता हूं. (८.१४)

जो भक्तजन अनन्य भावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं. (९.२२) जो मनुष्य प्रेमभक्ति से पत्र, फूल, फल, जल, आदि कोई भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, तो मैं उस शुद्धचित्त वाले भक्त का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसका भोग भी करता हूं. (९.२६) मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे प्रणाम कर. इस प्रकार मेरा परायण होने से तू मुझे ही प्राप्त होगे. (९.३४)

मैं ही सबके उत्पत्ति का कारण हूं, और मुझ से ही जगत् का विकास होता है. ऐसा जानकर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धापूर्वक मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं. (१०.०८) हे अर्जुन, जो पुरुष मेरे लिए ही कर्म करता है, मुझ पर ही भरोसा

रखता है, मेरा भक्त है, तथा जो आसक्ति रहित और निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त करता है. (११.५५) मुझ में ही अपना मन लगा, और बुद्धिसे मेरा ही चिन्तन कर, इसके उपरान्त निःसंदेह तुम मुझ में ही निवास करोगे. (१२.०८) जो पुरुष अविनाशी परमेश्वर को ही समस्त नश्वर प्राणियों में समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में ईश्वर का दर्शन करता है. (१३.२७)

जो पुरुष अनन्य भक्ति से मेरी उपासना करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य हो जाता है. (१४.२६) मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूं. स्मृति, ज्ञान, तथा शंका समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझ से ही होता है. समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता, तथा वेदों का जानने वाला भी मैं ही हूं. (१५.१५) काम, क्रोध, और लोभ मनुष्य को नरक की ओर ले जाने वाले तीन रास्ते हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए. (१६.२१) वाणी वही अच्छी है जो दूसरों के मन में अशान्ति पैदा न करे; जो सत्य, प्रिय, और हितकारक हो; तथा जिसका उपयोग शास्त्रों के पढ़ने में हो. (१७.१५)

मुझे श्रद्धा और भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है कि मैं कौन हूं और क्या हूं. मुझे जानने के पश्चात् मनुष्य मुझ में ही प्रवेश कर जाता है. (१८.५५) हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित रह कर अपनी माया के द्वारा मनुष्य को कठपुतली की तरह नचाते रहता है. (१८.६१) सम्पूर्ण धर्मों का (अर्थात् पुण्य कार्यों का भी) परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ. शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बंधनों) से मुक्त कर दूंगा. (१८.६६) जो पुरुष

श्रद्धा और भक्ति पूर्वक (गीता के) इस ज्ञान का मेरे भक्तों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरा सबसे प्यारा होगा और निःसन्देह मुझे प्राप्त करेगा. (१८.६८) संजय बोले — जहां भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्म रक्षा एवं कर्मरूपी) शस्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे; वहीं श्री, विजय, विभूति, और नीति आदि सदा विराजमान रहेंगी. ऐसा मेरा अटल विश्वास है. (१८.७८)

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्
श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

गीता सार

१. क्यों व्यर्थ चिन्ता करते हो? किससे व्यर्थ डरते हो? कौन तुम्हें मार सकता है? आत्मा न पैदा होती है, न मरती है.

२. जो हुआ, वह अच्छा हुआ, जो हो रहा है, वह अच्छा हो रहा है. जो होगा, वह भी अच्छा ही होगा. तुम भूत का पश्चाताप न करो. भविष्य की चिन्ता न करो. शिर्फ वर्तमान ही चल रहा है. अपना कर्तव्य करते रहो.

३. तुम्हारा क्या गया जो तुम रोते हो? तुम क्या लाये थे जो तुमने खो दिया? तुमने क्या पैदा किया था जो नाश हो गया? तुम कुछ लेकर न आए, जो लिया यहीं समाज से लिया. जो दिया उसी को दिया. खाली हाथ आए, खाली हाथ ही जाओगे. जो आज तुम्हारा है, कल किसी और का था, परसों किसी और का होगा. तुम इसे अपना मान कर मग्न हो रहे हो. बस, यह मोह ही तुम्हारे दुखों का कारण है.

४. परिवर्तन संसार का नियम है. जिसे तुम मृत्यु समझते हो, वही तो नया जीवन देती है. जब मेरा-तेरा, अपना-पराया, छोटा-बडा, मन से हटा दोगे, फिर सब तुम्हारा होगा और तुम सबके होगे.

५. न यह शरीर तुम्हारा है, न तुम इस शरीर के हो. यह शरीर पंच तत्त्व– पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, और वायु से बना है, और इसी मे मिल जायगा. तुम आत्मा हो, जिसका कभी नाश नही होता.

६. तुम अपने आपको भगवान के अर्पित कर दो. यही सबसे उत्तम सहारा है. जो इस सहारे को जानता है, वह भय, चिन्ता, शोक आदी से सदा के लिये मुक्त हो जाता है.

— भगवान श्रीकृष्ण

संदर्भ ग्रंथों की सूची

१ डाक्टर रामानन्द प्रसाद द्वारा लिखित "भगवद्गीता" (इंटरनैट पर उपलब्ध और दिल्ली में मोतीलाल बनारसी दास द्वारा प्रकाशित.)

२ गीता-प्रेस द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीता, श्लोकार्थ-सहित तथा पद्म-पुराणान्तर्गत प्रत्येक अध्याय के महात्मय सहित.

३ श्रीमद्भगवद्गीता-यथारूप, अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के संस्थापक पूज्य श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा लिखित, ISKCON द्वारा प्राप्य.

४ हिन्द पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा लिखित गीता.

५ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, सरल सुबोध भाषा भाष्य द्वारा श्री गुरुदत्त द्वारा लिखित, हिन्दी साहित्य सदन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित.

६ गीता ज्ञान, श्री ब्रह्मदत्त वात्सयायन, पुस्तक महल, दिल्ली द्वारा प्रकाशित.

७ गीता-रहस्य, कर्मयोगशास्त्र, बाल गंगाधर तिलक द्वारा लिखित.

८ गीता-दर्पण, स्वामी रामसुखदास जी द्वारा लिखित.

९ गीता-प्रबंध, श्री अरविंद, अरविंद आश्रम, पांडिचेरी.

अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी संयुक्त राज्य अमेरीका में एक पंजीकृत, लाभ-निरपेक्ष, आयकर-मुक्त धार्मिक संस्थान है, जो श्रीमद् भगवद्गीता के माध्यम से मानवता की सेवा करने और जन सामान्य में प्रबुद्धता जागृत करने के ध्येय से १९८४ में स्थापित की गई थी. अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी के लक्ष्य और उद्देश्य निम्नांकित हैं—

१. श्रीमद् भगवद्गीता का अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशन और नाममात्र सहयोग-राशि-मूल्य पर प्रसार करना तथा भारत और अमेरिका से आरम्भ कर विश्वभर में गीता का पुस्तकालयों, अस्पतालों, होटलों, मोटलों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में वितरण करना, जैसा कि अमेरिकन बाइबिल सोसायटी विश्वभर में बाइबिल का प्रचार-प्रसार करती है.

२. श्रीमद् भगवद्गीता तथा अन्य वैदिक धर्मग्रन्थों की मूल असाम्प्रदायिक सार्वभौमिक शिक्षा का सहज-सरल भाषा में अनुवाद द्वारा प्रसार और उसके लिए देश-देश में सोसायटी की शाखाओं की स्थापना करना.

३. गीता अध्ययन और सत्संग सभाओं की स्थापना में सहयोग और मार्गदर्शन देना तथा युवा, छात्र-वर्ग और व्यस्त व्यावसायिक प्रशासकों एवं अन्य रुचि रखने वालों में गीता का पत्राचार द्वारा निःशुल्क प्रशिक्षण करना.

४. वैदिक ज्ञान के अध्ययन और प्रसार में जुटे अन्य व्यक्तियों तथा लाभ-निरपेक्ष संस्थाओं को प्रेरणा, सहयोग और सहायता देना तथा आध्यात्मिक, तत्त्वज्ञान, ध्यानयोग आदि पर व्याख्यानों, परिसंवादों और संक्षिप्त पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करना.

५. वेदों, उपनिषदों, गीता, रामायण तथा विश्व के अन्य प्रमुख धर्मग्रन्थों – धम्मपद, बाइबिल, कुरआन आदि – की शाश्वत असाम्प्रदायिक शिक्षा के माध्यम से विभिन्न धर्मों के बीच की खाई को पाटना तथा सब वर्णों, जातियों, धर्मों और वर्गों में एकता पैदा करना एवं मानव जाति में विश्व बन्धुत्व की भावना का प्रसार करना.

Read our English Translation of Gita free from:

http://www.gita-society.com

or

You can buy it from your local Motilal Banarsidass Publishers. All proceeds go for Gita publication.

American Gita Society is a tax-exempt, non-profit organization. Our objective is to put Gita in all public places such as schools, hospitals, jails, libraries, hotels, and motels.

Volunteers are needed for this work. Join us and help a great cause.

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥२॥

अथ श्रीमद् भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

अर्जुनविषादयोगः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किम् अकुर्वत संजय ॥१.१॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस् तदा ।
आचार्यम् उपसंगम्य राजा वचनम् अब्रवीत् ॥१.२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम् आचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥१.३॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥१.४॥
धृष्टकेतुश् चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥१.५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥१.६॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥१.७॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस् तथैव च ।।१.८।।
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।१.९।।
अपर्याप्तं तद् अस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदम् एतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१.१०।।
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागम् अवस्थिताः ।
भीष्मम् एवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।।१.११।।
तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१.१२।।
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस् तुमुलोऽभवत् ।।१.१३।।
ततः श्वेतैर् हयैर् युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।।१.१४।।
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१.१५।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१.१६।।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।।१.१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ।।१.१८।।
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१.१९।।
अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुर् उद्यम्य पाण्डवः ।।१.२०।।

हृषीकेशं तदा वाक्यम् इदम् आह महीपते ।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।१.२१।।
यावद् एतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामान् अवस्थितान् ।
कैर् मया सह योद्धव्यम् अस्मिन् रणसमुद्यमे ।।१.२२।।
योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर् युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।१.२३।।
संजय उवाच
एवम् उक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।१.२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून् इति ।।१.२५।।
तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄन् अथ पितामहान्
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस् तथा ।।१.२६।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोर् उभयोर् अपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् ।।१.२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्न् इदम् अब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।१.२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।१.२९।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्य् अवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।१.३०।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनम् आहवे ।।१.३१।।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर् जीवितेन वा ।।१.३२।।

येषाम् अर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस् त्यक्त्वा धनानि च ॥१.३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास् तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस् तथा ॥१.३४॥
एतान् न हन्तुम् इच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥१.३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज् जनार्दन ।
पापम् एवाश्रयेद् अस्मान् हत्वैतान् आततायिनः ॥१.३६॥
तस्मान् नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥१.३७॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥१.३८॥
कथं न ज्ञेयम् अस्माभिः पापाद् अस्मान् निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर् जनार्दन ॥१.३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवत्युत ॥१.४०॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥१.४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥१.४२॥
दोषैर् एतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥१.४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥१.४४॥
अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनम् उद्यताः ।।१.४५।।
यदि माम् अप्रतीकारम् अशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस् तन् मे क्षेमतरं भवेत् ।।१.४६।।

संजय उवाच

एवम् उक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।१.४७।।

२. सांख्ययोगः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तम् इदं वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ।।२.१।।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलम् इदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् अर्जुन ।।२.२।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्य् उपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।२.३।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्मम् अहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हाव् अरिसूदन ।।२.४।।
गुरून् अहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यम् अपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस् तु गुरून् इहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।२.५।।
न चैतद् विद्मः कतरन् नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यान् एव हत्वा न जिजीविषामस्

तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२.६॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान् निश्चितं ब्रूहि तन् मे
शिष्यस् तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥२.७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकम् उच्छोषणम् इन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमाव् असपत्नम् ऋद्धं
राज्यं सुराणाम् अपि चाधिपत्यम् ॥२.८॥

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥२.९॥
तम् उवाच हृषीकेशः प्रहसन्न् इव भारत ।
सेनयोर् उभयोर् मध्ये विषीदन्तम् इदं वचः ॥२.१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यान् अन्वशोचस् त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२.११॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयम् अतः परम् ॥२.१२॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर् धीरस् तत्र न मुह्यति ॥२.१३॥
मात्रास्पर्शास् तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास् तांस् तितिक्षस्व भारत ॥२.१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥२.१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोर् अपि दृष्टोऽन्तस् त्व् अनयोस् तत्त्वदर्शिभिः ।।२.१६।।
अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वम् इदं ततम् ।
विनाशम् अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुम् अर्हति ।।२.१७।।
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ।।२.१८।।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।२.१९।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२.२०।।
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनम् अजम् अव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२.२१।।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य्
अन्यानि संयाति नवानि देही ।।२.२२।।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२.२३।।
अच्छेद्योऽयम् अदाह्योऽयम् अक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर् अचलोऽयं सनातनः ।।२.२४।।
अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् अविकार्योऽयम् उच्यते ।
तस्माद् एवं विदित्वैनं नानुशोचितुम् अर्हसि ।।२.२५।।
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुम् अर्हसि ।।२.२६।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर् ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्माद् अपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुम् अर्हसि ।।२.२७।।
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२.२८।।
आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनम् अन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२.२९।।
देही नित्यम् अवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुम् अर्हसि ।।२.३०।।
स्वधर्मम् अपि चावेक्ष्य न विकम्पितुम् अर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।२.३१।।
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारम् अपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धम् ईदृशम् ।।२.३२।।
अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ।।२.३३।।
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर् मरणाद् अतिरिच्यते ।।२.३४।।
भयाद् रणाद् उपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।२.३५।।
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस् तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।२.३६।।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।२.३७।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि ।।२.३८।।
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर् योगे त्व् इमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।२.३९।।
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पम् अप्य् अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।२.४०।।
व्यवसायात्मिका बुद्धिर् एकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्य् अनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।२.४१।।
याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य् अविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यद् अस्तीति वादिनः ।।२.४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।२.४३।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।२.४४।।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।२.४५।।
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।२.४६।।
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर् भूर् मा ते सङ्गोऽस्त्व् अकर्मणि ।।२.४७।।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२.४८।।
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय ।
बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।२.४९।।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।२.५०।।
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य् अनामयम् ।।२.५१।।
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर् व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।२.५२।।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस् तदा योगम् अवाप्स्यसि ।।२.५३।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किम् आसीत व्रजेत किम् ।।२.५४।।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येव् आत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस् तदोच्यते ।।२.५५।।
दुःखेष्व् अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर् मुनिर् उच्यते ।।२.५६।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस् तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.५७।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.५८।।
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।२.५९।।
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।२.६०।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२.६१।।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस् तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥२.६२॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२.६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति ॥२.६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिर् अस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥२.६५॥
नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिर् अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥२.६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर् नावम् इवाम्भसि ॥२.६७॥
तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२.६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥२.६९॥
आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं
समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥२.७०॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिम् अधिगच्छति ॥२.७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति ॥२.७२॥

३. कर्मयोगः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस् ते मता बुद्धिर् जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।३.१।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तद् एकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहम् आप्नुयाम् ।।३.२।।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३.३।।
न कर्मणाम् अनारम्भान् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनाद् एव सिद्धिं समधिगच्छति ।।३.४।।
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य् अकर्मकृत् ।
कार्यते ह्य् अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर् गुणैः ।।३.५।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।३.६।।
यस् त्व् इन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् असक्तः स विशिष्यते ।।३.७।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्य् अकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येद् अकर्मणः ।।३.८।।
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।३.९।।
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्व् इष्टकामधुक् ।।३.१०।।
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ ।।३.११।।
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर् दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।३.१२।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्व् अघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।३.१३।।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।३.१४।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।३.१५।।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुर् इन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।३.१६।।
यस् त्वात्मरतिर् एव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस् तस्य कार्यं न विद्यते ।।३.१७।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः ।।३.१८।।
तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परम् आप्नोति पूरुषः ।।३.१९।।
कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि ।।३.२०।।
यद् यद् आचरति श्रेष्ठस् तत् तद् एवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस् तद् अनुवर्तते ।।३.२१।।
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।३.२२।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।३.२३।।
उत्सीदेयुर् इमे लोका न कुर्यां कर्म चेद् अहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्याम् उपहन्याम् इमाः प्रजाः ।।३.२४।।

सक्ताः कर्मण्य् अविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस् तथासक्तश् चिकीर्षुर् लोकसंग्रहम् ॥३.२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥३.२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ॥३.२७॥
तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥३.२८॥
प्रकृतेर् गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन् न विचालयेत् ॥३.२९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर् निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३.३०॥
ये मे मतम् इदं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३.३१॥
ये त्वेतद् अभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस् तान् विद्धि नष्टान् अचेतसः ॥३.३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर् ज्ञानवान् अपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३.३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर् न वशम् आगच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३.३४॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३.३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्न् अपि वार्ष्णेय बलाद् इव नियोजितः ॥३.३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनम् इह वैरिणम् ।।३.३७।।
धूमेनाव्रियते वह्निर् यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस् तथा तेनेदम् आवृतम् ।।३.३८।।
आवृतं ज्ञानम् एतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३.३९।।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर् अस्याधिष्ठानम् उच्यते ।
एतैर् विमोहयत्य् एष ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ।।३.४०।।
तस्मात् त्वम् इन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।३.४१।।
इन्द्रियाणि पराण्याहुर् इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस् तु परा बुद्धिर् यो बुद्धेः परतस् तु सः ।।३.४२।।
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानम् आत्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।३.४३।।

४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुर् इक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।४.१।।
एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।४.२।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतद् उत्तमम् ।।४.३।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथम् एतद् विजानीयां त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति ॥४.४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥४.५॥
अजोऽपि सन्न् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥४.६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४.७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥४.८॥
जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति माम् एति सोऽर्जुन ॥४.९॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया माम् उपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावम् आगताः ॥४.१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस् तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥४.११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर् भवति कर्मजा ॥४.१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारम् अपि मां विद्ध्य् अकर्तारम् अव्ययम् ॥४.१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर् न स बध्यते ॥४.१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैर् अपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥४.१५॥
किं कर्म किम् अकर्मेति कवयोऽप्य् अत्र मोहिताः ।

तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।४.१६।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।४.१७।।
कर्मण्य् अकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।४.१८।।
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तम् आहुः पण्डितं बुधाः ।।४.१९।।
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्य् अभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ।।४.२०।।
निराशीर् यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ।।४.२१।।
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धाव् असिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।४.२२।।
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।४.२३।।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर् ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।४.२४।।
दैवम् एवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नाव् अपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।४.२५।।
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्य् अन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयान् अन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।४.२६।।
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।४.२७।।
द्रव्ययज्ञास् तपोयज्ञा योगयज्ञास् तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।४.२८।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।४.२९।।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।४.३०।।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्य् अयज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।४.३१।।
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।४.३२।।
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।४.३३।।
तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस् तत्त्वदर्शिनः ।।४.३४।।
यज् ज्ञात्वा न पुनर् मोहम् एवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्य् अशेषेण द्रक्ष्यस्य् आत्मन्य् अथो मयि ।।४.३५।।
अपि चेद् असि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।४.३६।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर् भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।४.३७।।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।४.३८।।
श्रद्धावाँल् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति ।।४.३९।।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४.४०।।
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४.४१।।
तस्माद् अज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगम् आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४.४२।।

५. कर्मसंन्यासयोगः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर् योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोर् एकं तन् मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।।५.१।।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकराव् उभौ ।
तयोस् तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।।५.२।।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ।।५.३।।
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकम् अप्य् आस्थितः सम्यग् उभयोर् विन्दते फलम् ।।५.४।।
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैर् अपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५.५।।
संन्यासस् तु महाबाहो दुःखम् आप्तुम् अयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर् ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।५.६।।
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्न् अपि न लिप्यते ।।५.७।।
नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ् शृण्वन् स्पृशञ् जिघ्रन्न् अश्नन् गच्छन् स्वपञ् श्वसन् ।।५.८।।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्न् उन्मिषन् निमिषन्न् अपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।५.९।।
ब्रह्मण्य् आधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रम् इवाम्भसा ।।५.१०।।
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैर् इन्द्रियैर् अपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।५.११।।
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।५.१२।।
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ।।५.१३।।
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस् तु प्रवर्तते ।।५.१४।।
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।५.१५।।
ज्ञानेन तु तद् अज्ञानं येषां नाशितम् आत्मनः ।
तेषाम् आदित्यवज् ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ।।५.१६।।
तद्बुद्धयस् तदात्मानस् तन्निष्ठास् तत्परायणाः ।
गच्छन्त्य् अपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५.१७।।
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।५.१८।।
इहैव तैर् जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।५.१९।।
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिर् असंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।५.२०।।
बाह्यस्पर्शेष्व् असक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखम् अक्षयम् अश्नुते ।।५.२१।।
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।५.२२।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।५.२३।।
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस् तथान्तर् ज्योतिर् एव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।५.२४।।
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् ऋषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।५.२५।।
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५.२६।।
स्पर्शान् कृत्वा बहिर् बाह्यांश् चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५.२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर् मुनिर् मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।५.२८।।
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति ।।५.२९।।

६. आत्मसंयमयोगः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर् न चाक्रियः ।।६.१।।
यं संन्यासम् इति प्राहुर् योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्य् असंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।६.२।।
आरुरुक्षोर् मुनेर् योगं कर्म कारणम् उच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणम् उच्यते ।।६.३।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्व् अनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस् तदोच्यते ।।६.४।।
उद्धरेद् आत्मनात्मानं नात्मानम् अवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुर् आत्मैव रिपुर् आत्मनः ।।६.५।।
बन्धुर् आत्मात्मनस् तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस् तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६.६।।
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।६.७।।
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।६.८।।
सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्व् अपि च पापेषु समबुद्धिर् विशिष्यते ।।६.९।।
योगी युञ्जीत सततम् आत्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर् अपरिग्रहः ।।६.१०।।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरम् आसनम् आत्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।६.११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ।।६.१२।।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्न् अचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।६.१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर् ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।६.१४।।
युञ्जन्न् एवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थाम् अधिगच्छति ।।६.१५।।
नात्यश्नतस् तु योगोऽस्ति न चैकान्तम् अनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।६.१६।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।६.१७।।

यदा विनियतं चित्तम् आत्मन्य् एवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्य् उच्यते तदा ॥६.१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगम् आत्मनः ॥६.१९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्न् आत्मनि तुष्यति ॥६.२०॥
सुखम् आत्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश् चलति तत्त्वतः ॥६.२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥६.२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥६.२३॥
संकल्पप्रभवान् कामांस् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥६.२४॥
शनैः शनैर् उपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिद् अपि चिन्तयेत् ॥६.२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलम् अस्थिरम् ।
ततस् ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत् ॥६.२६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखम् उत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतम् अकल्मषम् ॥६.२७॥
युञ्जन्न् एवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते ॥६.२८॥
सर्वभूतस्थम् आत्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६.२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।६.३०।।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्य् एकत्वम् आस्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।६.३१।।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।६.३२।।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस् त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ।।६.३३।।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोर् इव सुदुष्करम् ।।६.३४।।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।६.३५।।
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुम् उपायतः ।।६.३६।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच् चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।६.३७।।
कच्चिन् नोभयविभ्रष्टश् छिन्नाभ्रम् इव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।६.३८।।
एतन् मे संशयं कृष्ण छेत्तुम् अर्हस्य् अशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्य् उपपद्यते ।।६.३९।।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस् तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।।६.४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।६.४१।।
अथवा योगिनाम् एव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यद् ईदृशम् ।।६.४२।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।६.४३।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्य् अवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुर् अपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।६.४४।।
प्रयत्नाद् यतमानस् तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस् ततो याति परां गतिम् ।।६.४५।।
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश् चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ।।६.४६।।
योगिनाम् अपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।६.४७।।

७. ज्ञानविज्ञानयोगः

श्रीभगवानुवाच

मय्य् आसक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां   यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।७.१।।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्याम्य् अशेषतः ।
यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ।।७.२।।
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यतताम् अपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः ।।७.३।।
भूमिर् आपोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिर् एव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिर् अष्टधा ।।७.४।।
अपरेयम् इतस् त्व् अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥७.५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्य् उपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस् तथा ॥७.६॥
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिद् अस्ति धनंजय ।
मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७.७॥
रसोऽहम् अप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥७.८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश् चास्मि तपस्विषु ॥७.९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर् बुद्धिमताम् अस्मि तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ॥७.१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥७.११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास् तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्व् अहं तेषु ते मयि ॥७.१२॥
त्रिभिर् गुणमयैर् भावैर् एभिः सर्वम् इदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययम् ॥७.१३॥
दैवी ह्य् एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
माम् एव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते ॥७.१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रिताः ॥७.१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुर् अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७.१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर् विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः ॥७.१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्व् आत्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा माम् एवानुत्तमां गतिम् ॥७.१८॥
बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७.१९॥
कामैस् तैस्तैर् हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियमम् आस्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥७.२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुम् इच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां ताम् एव विदधाम्य् अहम् ॥७.२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस् तस्याराधनम् ईहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥७.२२॥
अन्तवत् तु फलं तेषां तद् भवत्य् अल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति माम् अपि ॥७.२३॥
अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धयः ।
परं भावम् अजानन्तो ममाव्ययम् अनुत्तमम् ॥७.२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको माम् अजम् अव्ययम् ॥७.२५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥७.२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥७.२७॥
येषां त्व् अन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥७.२८॥
जरामरणमोक्षाय माम् आश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम् अध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥७.२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर् युक्तचेतसः ।।७.३०।।

८. अक्षरब्रह्मयोगः

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किम् अध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तम् अधिदैवं किम् उच्यते ।।८.१।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।८.२।।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मम् उच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।८.३।।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहम् एवात्र देहे देहभृतां वर ।।८.४।।
अन्तकाले च माम् एव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्य् अत्र संशयः ।।८.५।।
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्य् अन्ते कलेवरम् ।
तं तं एवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।८.६।।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च ।
मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर् माम् एवैष्यस्य् असंशयम् ।।८.७।।
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८.८।।
कविं पुराणम् अनुशासितारम्
अणोर् अणीयांसम् अनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।८.९।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर् मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम् ॥८.१०॥
यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः ।
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥८.११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्य् आधायात्मनः प्राणम् आस्थितो योगधारणाम् ॥८.१२॥
ओम् इत्य् एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥८.१३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥८.१४॥
माम् उपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम् अशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥८.१५॥
आब्रह्मभुवनाल् लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥८.१६॥
सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥८.१७॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्य् अहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥८.१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्य् अहरागमे ॥८.१९॥
परस् तस्मात् तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥८.२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्य् उक्तस् तम् आहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥८.२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस् त्व् अनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वम् इदं ततम् ॥८.२२॥
यत्र काले त्व् अनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥८.२३॥
अग्निर् ज्योतिर् अहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥८.२४॥
धूमो रात्रिस् तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर् योगी प्राप्य निवर्तते ॥८.२५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्य् अनावृत्तिम् अन्ययावर्तते पुनः ॥८.२६॥
नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥८.२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वम् इदं विदित्वा
योगी परं स्थानम् उपैति चाद्यम् ॥८.२८॥

९. राजविद्याराजगुह्ययोगः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्य् अनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥९.१॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रम् इदम् उत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुम् अव्ययम् ॥९.२॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।।९.३।।
मया ततम् इदं सर्वं जगद् अव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्व् अवस्थितः ।।९.४।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ।
भूतभृन् न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।९.५।।
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्य् उपधारय ।।९.६।।
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस् तानि कल्पादौ विसृजाम्य् अहम् ।।९.७।।
प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेर् वशात् ।।९.८।।
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु ।।९.९।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ।।९.१०।।
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुम् आश्रितम् ।
परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।९.११।।
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीम् आसुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।।९.१२।।
महात्मानस् तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः ।
भजन्त्य् अनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम् ।।९.१३।।
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।९.१४।।
ज्ञानयज्ञेन चाप्य् अन्ये यजन्तो माम् उपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।९.१५।।

अहं क्रतुर् अहं यज्ञः स्वधाहम् अहम् औषधम् ।
मन्त्रोऽहम् अहम् एवाज्यम् अहम् अग्निर् अहं हुतम् ॥९.१६॥
पिताहम् अस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रम् ओंकार ऋक् साम यजुर् एव च ॥९.१७॥
गतिर् भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजम् अव्ययम् ॥९.१८॥
तपाम्य् अहम् अहं वर्षं निगृह्णाम्य् उत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सद् असच् चाहम् अर्जुन ॥९.१९॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैर् इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥९.२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥९.२१॥
अनन्याश् चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्य् अहम् ॥९.२२॥
येऽप्य् अन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि माम् एव कौन्तेय यजन्त्य् अविधिपूर्वकम् ॥९.२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुर् एव च ।
न तु माम् अभिजानन्ति तत्त्वेनातश् च्यवन्ति ते ॥९.२४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥९.२५॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तद् अहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥९.२६॥
यत् करोषि यद् अश्नासि यज् जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥९.२७॥
शुभाशुभफलैर् एवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो माम् उपैष्यसि ॥९.२८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्य् अहम् ॥९.२९॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् ।
साधुर् एव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥९.३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥९.३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास् तथा शूद्रास् तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥९.३२॥
किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस् तथा ।
अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम् ॥९.३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
माम् एवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायणः ॥९.३४॥

१०. विभूतियोगः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत् तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१०.१॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहम् आदिर् हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥१०.२॥
यो माम् अजम् अनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१०.३॥

बुद्धिर् ज्ञानम् असंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयम् एव च ।।१०.४।।
अहिंसा समता तुष्टिस् तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।१०.५।।
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस् तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।१०.६।।
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।१०.७।।
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।१०.८।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।१०.९।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते ।।१०.१०।।
तेषाम् एवानुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्य् आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।१०.११।।
अर्जुन उवाच
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् आदिदेवम् अजं विभुम् ।।१०.१२।।
आहुस् त्वाम् ऋषयः सर्वे देवर्षिर् नारदस् तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।१०.१३।।
सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये यन् मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर् देवा न दानवाः ।।१०.१४।।
स्वयम् एवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।।१०.१५।।

वक्तुम् अर्हस्य् अशेषेण दिव्या ह्य् आत्मविभूतयः ।
याभिर् विभूतिभिर् लोकान् इमांस् त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१०.१६॥
कथं विद्याम् अहं योगिंस् त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१०.१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर् हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१०.१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्य् आत्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्य् अन्तो विस्तरस्य मे ॥१०.१९॥
अहम् आत्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहम् आदिश्च मध्यं च भूतानाम् अन्त एव च ॥१०.२०॥
आदित्यानाम् अहं विष्णुर् ज्योतिषां रविर् अंशुमान् ।
मरीचिर् मरुताम् अस्मि नक्षत्राणाम् अहं शशी ॥१०.२१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानाम् अस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानाम् अस्मि चेतना ॥१०.२२॥
रुद्राणां शंकरश् चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश् चास्मि मेरुः शिखरिणाम् अहम् ॥१०.२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनाम् अहं स्कन्दः सरसाम् अस्मि सागरः ॥१०.२४॥
महर्षीणां भृगुर् अहं गिराम् अस्म्य् एकम् अक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥१०.२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥१०.२६॥
उच्चैःश्रवसम् अश्वानां विद्धि माम् अमृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥१०.२७॥

आयुधानाम् अहं वज्रं धेनूनाम् अस्मि कामधुक् ।
प्रजनश् चास्मि कन्दर्पः सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः ॥१०.२८॥

अनन्तश् चास्मि नागानां वरुणो यादसाम् अहम् ।
पितॄणाम् अर्यमा चास्मि यमः संयमताम् अहम् ॥१०.२९॥

प्रह्लादश् चास्मि दैत्यानां कालः कलयताम् अहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥१०.३०॥

पवनः पवताम् अस्मि रामः शस्त्रभृताम् अहम् ।
झषाणां मकरश् चास्मि स्रोतसाम् अस्मि जाह्नवी ॥१०.३१॥

सर्गाणाम् आदिर् अन्तश्च मध्यं चैवाहम् अर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदताम् अहम् ॥१०.३२॥

अक्षराणाम् अकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहम् एवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥१०.३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहम् उद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर् वाक् च नारीणां स्मृतिर् मेधा धृतिः क्षमा ॥१०.३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसाम् अहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकरः ॥१०.३५॥

द्यूतं छलयताम् अस्मि तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम् ॥१०.३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनाम् अप्य् अहं व्यासः कवीनाम् उशना कविः ॥१०.३७॥

दण्डो दमयताम् अस्मि नीतिर् अस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ॥१०.३८॥

यच् चापि सर्वभूतानां बीजं तद् अहम् अर्जुन ।
न तद् अस्ति विना यत् स्यान् मया भूतं चराचरम् ॥१०.३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर् विस्तरो मया ॥१०.४०॥

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितम् एव वा ।
तत् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥१०.४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ॥१०.४२॥

११. विश्वरूपदर्शनयोगः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यम् अध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत् त्वयोक्तं वचस् तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥११.१॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यम् अपि चाव्ययम् ॥११.२॥
एवम् एतद् यथात्थ त्वम् आत्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम् ऐश्वरं पुरुषोत्तम ॥११.३॥
मन्यसे यदि तच् छक्यं मया द्रष्टुम् इति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानम् अव्ययम् ॥११.४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥११.५॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतस् तथा ।
बहून्य् अदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥११.६॥
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच् चान्यद् द्रष्टुम् इच्छसि ॥११.७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ॥११.८॥

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपम् ऐश्वरम् ॥११.९॥
अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥११.१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवम् अनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११.११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपद् उत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस् तस्य महात्मनः ॥११.१२॥
तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तम् अनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस् तदा ॥११.१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिर् अभाषत ॥११.१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस् तव देव देहे
सर्वांस् तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणम् ईशं कमलासनस्थम्
ऋषींश्च सर्वान् उरगांश्च दिव्यान ॥११.१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस् तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥११.१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् ॥११.१७॥
त्वम् अक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस् त्वं पुरुषो मतो मे ॥११.१८॥

अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तम् ॥११.१९॥

द्यावापृथिव्योर् इदम् अन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपम् उग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥११.२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्य् उक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥११.२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश् चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश् चैव सर्वे ॥११.२२॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास् तथाऽहम् ॥११.२३॥

नभःस्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥११.२४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥११.२५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस् तथासौ
सहास्मदीयैर् अपि योधमुख्यैः ॥११.२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैर् उत्तमाङ्गैः ॥११.२७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रम् एवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्य् अभिविज्वलन्ति ॥११.२८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्
तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥११.२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्
लोकान् समग्रान् वदनैर् ज्वलद्भिः ।
तेजोभिर् आपूर्य जगत् समग्रं

भासस् तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥११.३०॥
आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुम् इच्छामि भवन्तम् आद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥११.३१॥
श्रीभगवानुवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११.३२॥
तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वम् एव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥११.३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यान् अपि योधवीरान् ।
मया हतांस् त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥११.३४॥
संजय उवाच
एतच् छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर् वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥११.३५॥
अर्जुन उवाच
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या

जगत् प्रहृष्यत्य् अनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥११.३६॥

कस्माच् च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्य् आदिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वम् अक्षरं सद् असत् तत्परं यत् ॥११.३७॥

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणस्
त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूप ॥११.३८॥

वायुर् यमोऽग्निर् वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस् त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥११.३९॥

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस् ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस् त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥११.४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यद् उक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥११.४१॥

यच् चावहासार्थम् असत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।

एकोऽथवाप्य् अच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वाम् अहम् अप्रमेयम् ॥११.४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वम् अस्य पूज्यश्च गुरुर् गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्य् अभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्य् अप्रतिमप्रभाव ॥११.४३॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वाम् अहम् ईशम् ईड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥११.४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तद् एव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥११.४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
इच्छामि त्वां द्रष्टुम् अहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥११.४६॥
श्रीभगवानुवाच
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं
यन् मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥११.४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर् न दानैर्
न च क्रियाभिर् न तपोभिर् उग्रैः ।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥११.४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरम् ईदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस् त्वं
तद् एव मे रूपम् इदं प्रपश्य ॥११.४९॥
संजय उवाच
इत्य् अर्जुनं वासुदेवस् तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतम् एनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर् महात्मा ॥११.५०॥
अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीम् अस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥११.५१॥
श्रीभगवानुवाच
सुदुर्दर्शम् इदं रूपं दृष्टवानसि यन् मम ।
देवा अप्य् अस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥११.५२॥
नाहं वेदैर् न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥११.५३॥
भक्त्या त्व् अनन्यया शक्य अहम् एवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥११.५४॥
मत्कर्मकृन् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स माम् एति पाण्डव ॥११.५५॥

१२. भक्तियोगः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास् त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्य् अक्षरम् अव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२.१।
श्रीभगवानुवाच
मय्य् आवेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास् ते मे युक्ततमा मताः ॥१२.२॥
ये त्व् अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् ॥१२.३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति माम् एव सर्वभूतहिते रताः ॥१२.४॥
क्लेशोऽधिकतरस् तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर् दुःखं देहवद्भिर् अवाप्यते ॥१२.५॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥१२.६॥
तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्य् आवेशितचेतसाम् ॥१२.७॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२.८॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो माम् इच्छाप्तुं धनंजय ॥१२.९॥
अभ्यासेऽप्य् असमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थम् अपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥१२.१०॥
अथैतद् अप्य् अशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगम् आश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥१२.११॥
श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासाज् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस् त्यागाच् छान्तिर् अनन्तरम् ॥१२.१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१२.१३।।
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर् यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२.१४।।
यस्मान् नोद्विजते लोको लोकान् नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर् मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१२.१५।।
अनपेक्षः शुचिर् दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२.१६।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ।।१२.१७।।
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१२.१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर् मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर् भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।।१२.१९।।
ये तु धर्म्यामृतम् इदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास् तेऽतीव मे प्रियाः ।।१२.२०।।

१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम् इत्य् अभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१३.१।।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् ज्ञानं यत् तज् ज्ञानं मतं मम ।।१३.२।।
तत् क्षेत्रं यच् च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ।।१३.३।।
ऋषिभिर् बहुधा गीतं छन्दोभिर् विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर् विनिश्चितैः ॥१३.४॥
महाभूतान्य् अहंकारो बुद्धिर् अव्यक्तम् एव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥१३.५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारम् उदाहृतम् ॥१३.६॥
अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा क्षान्तिर् आर्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः ॥१३.७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ॥१३.८॥
असक्तिर् अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वम् इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१३.९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिर् अव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर् जनसंसदि ॥१३.१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज् ज्ञानम् इति प्रोक्तम् अज्ञानं यद् अतोऽन्यथा ॥१३.११॥
ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वाऽमृतम् अश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन् नासद् उच्यते ॥१३.१२॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥१३.१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच् चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१३.१४॥
बहिर् अन्तश्च भूतानाम् अचरं चरम् एव च ।
सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१३.१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तम् इव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज् ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१३.१६॥

ज्योतिषाम् अपि तज् ज्योतिस् तमसः परम् उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१३.१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१३.१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्य् अनादी उभाव् अपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१३.१९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिर् उच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुर् उच्यते ॥१३.२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥१३.२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्य् उक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥१३.२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥१३.२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिद् आत्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥१३.२४॥
अन्ये त्व् एवम् अजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्य् एव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥१३.२५॥
यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥१३.२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्व् अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३.२७॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरम् ।
न हिनस्त्य् आत्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥१३.२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानम् अकर्तारं स पश्यति ।।१३.२९।।
यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।।१३.३०।।
अनादित्वान् निर्गुणत्वात् परमात्मायम् अव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।१३.३१।।
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद् आकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।१३.३२।।
यथा प्रकाशयत्य् एकः कृत्स्नं लोकम् इमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।१३.३३।।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् एवम् अन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर् यान्ति ते परम् ।।१३.३४।।

१४. गुणत्रयविभागयोगः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानम् उत्तमम् ।
यज् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिम् इतो गताः ।।१४.१।।
इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।१४.२।।
मम योनिर् महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्य् अहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।१४.३।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिर् अहं बीजप्रदः पिता ।।१४.४।।
सत्त्वं रजस् तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनम् अव्ययम् ।।१४.५।।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।१४.६।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन् निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।१४.७।।
तमस् त्व् अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस् तन् निबध्नाति भारत ।।१४.८।।
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानम् आवृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्य् उत ।।१४.९।।
रजस् तमश् चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस् तथा ।।१४.१०।।
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वम् इत्य् उत ।।१४.११।।
लोभः प्रवृत्तिर् आरम्भः कर्मणाम् अशमः स्पृहा ।
रजस्य् एतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१४.१२।।
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्य् एतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१४.१३।।
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते ।।१४.१४।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस् तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१४.१५।।
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस् तु फलं दुःखम् अज्ञानं तमसः फलम् ।।१४.१६।।
सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानम् एव च ।।१४.१७।।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१४.१८।।
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१४.१९।।
गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर् विमुक्तोऽमृतम् अश्नुते ।।१४.२०।।

अर्जुन उवाच

कैर् लिङ्गैस् त्रीन् गुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ।।१४.२१।।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहम् एव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।१४.२२।।
उदासीनवद् आसीनो गुणैर् यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्य् एव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।१४.२३।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस् तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।१४.२४।।
मानापमानयोस् तुल्यस् तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।१४.२५।।
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।१४.२६।।
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।१४.२७।।

१५. पुरुषोत्तमयोगः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस् तं वेद स वेदवित् ।।१५.१।।
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास् तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्य् अनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥१५.२॥
न रूपम् अस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर् न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थम् एनं सुविरूढमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥१५.३॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तम् एव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥१५.४॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर् विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्य् अमूढाः पदम् अव्ययं तत् ॥१५.५॥
न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥१५.६॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५.७॥
शरीरं यद् अवाप्नोति यच् चाप्य् उत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर् गन्धान् इवाशयात् ॥१५.८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणम् एव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयान् उपसेवते ॥१५.९॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१५.१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्य् आत्मन्य् अवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्य् अकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य् अचेतसः ॥१५.११॥
यद् आदित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच् चन्द्रमसि यच् चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥१५.१२॥
गाम् आविश्य च भूतानि धारयाम्य् अहम् ओजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१५.१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्य् अन्नं चतुर्विधम् ॥१५.१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥१५.१५॥
द्वाव् इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१५.१६॥
उत्तमः पुरुषस् त्व् अन्यः परमात्मेत्य् उदाहृतः ।
यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्त्य् अव्यय ईश्वरः ॥१५.१७॥
यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम् अक्षराद् अपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१५.१८॥
यो माम् एवम् असंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१५.१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रम् इदम् उक्तं मयाऽनघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥१५.२०॥

१६. दैवासुरसंपद्विभागयोगः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर् ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस् तप आर्जवम् ॥१६.१॥

अहिंसा सत्यम् अक्रोधस् त्यागः शान्तिर् अपैशुनम् ।
दया भूतेष्व् अलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीर् अचापलम् ॥१६.२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीम् अभिजातस्य भारत ॥१६.३॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यम् एव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदम् आसुरीम् ॥१६.४॥
दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीम् अभिजातोऽसि पाण्डव ॥१६.५॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥१६.६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुर् आसुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥१६.७॥
असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुर् अनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किम् अन्यत् कामहैतुकम् ॥१६.८॥
एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्य् उग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥१६.९॥
कामम् आश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१६.१०॥
चिन्ताम् अपरिमेयां च प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावद् इति निश्चिताः ॥१६.११॥
आशापाशशतैर् बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१६.१२॥
इदम् अद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदम् अस्तीदम् अपि मे भविष्यति पुनर् धनम् ॥१६.१३॥
असौ मया हतः शत्रुर् हनिष्ये चापरान् अपि ।

ईश्वरोऽहम् अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१६.१४॥
आढ्योऽभिजनवान् अस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्य् अज्ञानविमोहिताः ॥१६.१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६.१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस् ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१६.१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
माम् आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१६.१८॥
तान् अहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्य् अजस्रम् अशुभान् आसुरीष्व् एव योनिषु ॥१६.१९॥
आसुरीं योनिम् आपन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
माम् अप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्य् अधमां गतिम् ॥१६.२०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनम् आत्मनः ।
कामः क्रोधस् तथा लोभस् तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत्
॥१६.२१॥
एतैर् विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस् त्रिभिर् नरः ।
आचरत्य् आत्मनः श्रेयस् ततो याति परां गतिम् ॥१६.२२॥
यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिम् अवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१६.२३॥
तस्माच् छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इहार्हसि ॥१६.२४॥

१७. श्रद्धात्रयविभागयोगः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वम् आहो रजस् तमः ।।१७.१।।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।१७.२।।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।१७.३।।
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश् चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।१७.४।।
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।१७.५।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्य् आसुरनिश्चयान् ।।१७.६।।
आहारस् त्व् अपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस् तपस् तथा दानं तेषां भेदम् इमं शृणु ।।१७.७।।
आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।१७.८।।
कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।१७.९।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्
उच्छिष्टम् अपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१७.१०।।
अफलाकाङ्क्षिभिर् यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यम् एवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।१७.११।।
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थम् अपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१७.१२।।
विधिहीनम् असृष्टान्नं मन्त्रहीनम् अदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१७.१३॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचम् आर्जवम् ।
ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७.१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१७.१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिर् इत्य् एतत् तपो मानसम् उच्यते ॥१७.१६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस् तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर् युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७.१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तद् इह प्रोक्तं राजसं चलम् अध्रुवम् ॥१७.१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसम् उदाहृतम् ॥१७.१९॥
दातव्यम् इति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥१७.२०॥
यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलम् उद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥१७.२१॥
अदेशकाले यद् दानम् अपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतम् अवज्ञातं तत् तामसम् उदाहृतम् ॥१७.२२॥
ॐ तत् सद् इति निर्देशो ब्रह्मणस् त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास् तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥१७.२३॥
तस्माद् ओम् इत्य् उदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥१७.२४॥
तद् इत्य् अनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥१७.२५॥

सद्भावे साधुभावे च सद् इत्य् एतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥१७.२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सद् इति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सद् इत्य् एवाभिधीयते ॥१७.२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस् तप्तं कृतं च यत् ।
असद् इत्य् उच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥१७.२८॥

१८. मोक्षसंन्यासयोगः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥१८.१॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस् त्यागं विचक्षणाः ॥१८.२॥
त्याज्यं दोषवद् इत्य् एके कर्म प्राहुर् मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम् इति चापरे ॥१८.३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥१८.४॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यम् एव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१८.५॥
एतान्य् अपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतम् उत्तमम् ॥१८.६॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस् तामसः परिकीर्तितः ॥१८.७॥
दुःखम् इत्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥१८.८॥

कार्यम् इत्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥१८.९॥
न द्वेष्ट्य् अकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१८.१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य् अशेषतः ।
यस् तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्य् अभिधीयते ॥१८.११॥
अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्य् अत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१८.१२॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१८.१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१८.१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर् यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१८.१५॥
तत्रैवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्य् अकृतबुद्धित्वान् न स पश्यति दुर्मतिः ॥१८.१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर् यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥१८.१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८.१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच् छृणु तान्य् अपि ॥१८.१९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावम् अव्ययम् ईक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥१८.२०॥
पृथक्त्वेन तु यज् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज् ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥१८.२१॥
यत् तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम् ॥१८.२२॥
नियतं सङ्गरहितम् अरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥१८.२३॥
यत् तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसम् उदाहृतम् ॥१८.२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसाम् अनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहाद् आरभ्यते कर्म यत् तत् तामसम् उच्यते ॥१८.२५॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर् निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥१८.२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर् लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥१८.२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥१८.२८॥
बुद्धेर् भेदं धृतेश् चैव गुणतस् त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानम् अशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥१८.२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥१८.३०॥
यया धर्मम् अधर्मं च कार्यं चाकार्यम् एव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥१८.३१॥
अधर्मं धर्मम् इति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥१८.३२॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥१८.३३॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥१८.३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदम् एव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥१८.३५॥
सुखं त्व् इदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥१८.३६॥
यत् तद् अग्रे विषम् इव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥१८.३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तद् अग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषम् इव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥१८.३८॥
यद् अग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनम् आत्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसम् उदाहृतम् ॥१८.३९॥
न तद् अस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर् मुक्तं यद् एभिः स्यात् त्रिभिर् गुणैः ॥१८.४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर् गुणैः ॥१८.४१॥
शमो दमस् तपः शौचं क्षान्तिर् आर्जवम् एव च ।
ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥१८.४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर् दाक्ष्यं युद्धे चाप्य् अपलायनम् ।
दानम् ईश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥१८.४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥१८.४४॥
स्वे स्वे कर्मण्य् अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच् छृणु ॥१८.४५॥
यतः प्रवृत्तिर् भूतानां येन सर्वम् इदं ततम् ।

स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥१८.४६॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥१८.४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषम् अपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निर् इवावृताः ॥१८.४८॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥१८.४९॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥१८.५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस् त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥१८.५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥१८.५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१८.५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥१८.५४॥
भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश् चास्मि तत्त्वतः ।
ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥१८.५५॥
सर्वकर्माण्य् अपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादाद् अवाप्नोति शाश्वतं पदम् अव्ययम् ॥१८.५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगम् उपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥१८.५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वम् अहंकारान् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥१८.५८॥

यद् अहंकारम् आश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस् ते प्रकृतिस् त्वां नियोक्ष्यति ॥१८.५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन् मोहात् करिष्यस्य् अवशोऽपि तत् ॥१८.६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८.६१॥
तम् एव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१८.६२॥
इति ते ज्ञानम् आख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतद् अशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८.६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढम् इति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८.६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
माम् एवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८.६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८.६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥१८.६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्व् अभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा माम् एवैष्यत्य् असंशयः ॥१८.६८॥
न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्माद् अन्यः प्रियतरो भुवि ॥१८.६९॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादम् आवयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहम् इष्टः स्याम् इति मे मतिः ॥१८.७०॥
श्रद्धावान् अनसूयश्च शृणुयाद् अपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल् लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥१८.७१॥

कच्चिद् एतच् छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिद् अज्ञानसंमोहः प्रनष्टस् ते धनंजय ॥१८.७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा त्वत्प्रसादान् मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥१८.७३॥

संजय उवाच

इत्य् अहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादम् इमम् अश्रौषम् अद्भुतं रोमहर्षणम् ॥१८.७४॥
व्यासप्रसादाच् छ्रुतवान् एतद् गुह्यम् अहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥१८.७५॥
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादम् इमम् अद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर् मुहुः ॥१८.७६॥
तच् च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपम् अत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥१८.७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर् विजयो भूतिर् ध्रुवा नीतिर् मतिर् मम ॥१८.७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्
श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

यह ग्रन्थ भगवान कृष्ण को समर्पित है
प्रभु पाठकों को अच्छाई, समृद्धि,
और शान्ति प्रदान करें

American/International Gita Society®
511 Lowell Place, Fremont, Ca. 94536-1805
USA
Phone (510) 791-6953, 6993
Email: gita@gita-society.com
Kindly visit our website
www.gitaInternational.com
For FREE pocket size complete
Gita in English, and Hindi

आप हमें सहयोग दान के लिए
संपर्क स्थापित कर सकते हैं, यदि –

- आप हिंदी या अंग्रेजी के संक्षिप्त संस्करण के वितरण में सहायता करना चाहते हैं.
- आप इसे किसी प्रांतीय भाषा में अनुदित करना चाहते हैं.
- आप अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी की शाखा अपने क्षेत्र में स्थापित करना चाहते हैं.

हमारा पता–
rajiv@gita-socety.com
Rajiv Kumar Bhatnagar
Sector-5, House No. 30
R. K. Puram
New Delhi 110022
Phone, Residence: 11 616 0849
Office: 11 301 1579

गीता पढ़ो, आगे बढ़ो